

साहित्यदर्पणकार आचार्यविश्वनाथप्रणीत
Sahityadarapankar Acharya Viswanatha's

चन्द्रकला नाटिका

CHANDRAKALA NATIKA

(संस्कृत हिन्दी व्याख्या समन्विता)
(With Sanskrit Hindi Commentary)

संपादक

Edited by

प्रभातशास्त्री साहित्याचार्य

Prabhat Shastri Sahityacharya

संस्कृत व्याख्याकार

Sanskrit Commentary by

तारिणाश झा व्याकरणवेदान्ताचार्य

Tarnishjha Vyakaran Vedantacharya

हिन्दी अनुवादक

Hindi Translation by

शिव शङ्कर त्रिपाठी

Shiva Shanker Tripathi

प्रकाशक

Published by

देवभाषा प्रकाशन

वाराणस, इलाहाबाद

Devabhasha Prakashan

Daraganj, Allahabad

संस्करण प्रथम

First Edition



(सर्वेधिकारा : प्रकाशकाधीना ।)

All rights reserved

by the publisher

[Samv-2023]

मूल्य ४ ००

Price 4/-

मुद्रक—सुपरफाइन प्रिंटेर्स,

१ सी बाई का बाग, इलाहाबाद

Printed by Superfine Printers

Allahabad

कृतिकार एवं कृति



विश्वनाथ का स्थिति-काल

संस्कृत साहित्य के इतिहास में कविराज विश्वनाथ सम्मान्य आलंकारिक और कवि हुए हैं। उनका साहित्यशास्त्र का सचरुग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' अपनी सुबोध एवं स्पष्ट शैली के लिए अत्यन्त लोक-प्रिय है। उसमें काव्य तथा नाट्य दोनों तत्वों को प्रामाणिक मीमांसा है। विश्वनाथ के पिता, पितामह कवि तो थे ही, उनकी बहुत बड़ी विद्वद् मण्डली भी थी जो साहित्यविद्या में निष्णात थी, इसका पता हमें 'साहित्यदर्पण' में उद्धृत छन्दों से चलता है। अतः संस्कृत-साहित्य के पाठकों के लिए कविराज विश्वनाथ का नाम और कृतित्व नया नहीं है। उनकी प्रशस्त कृति 'चन्द्रकला नाटिका' जो अब तक उपेक्षित पड़ी थी, उसका सागोपाग प्रकाशन पाठकों के लिए नवीनता अवश्य रखता है।

मध्यकालीन इतिहास (१२वीं शती ई०) के परचातु विश्वनाथ की स्थिति है और वे १४वीं या १५ वीं शती ई० में किसी समय रहे, उत्कल प्रदेश के कर्तग नरेश नरसिंहभानुदेव चतुर्थ की सभा में महासाग्विबिग्रहिक के रूप में उनकी प्रतिष्ठा थी। उनकी स्थिति और काल के सम्बन्ध में इतनी सी धारणा सामान्य-सया है। किन्तु उनके ग्रन्थ एवं तत्कालीन इतिहास के प्राप्त शिलालेख आदि में कुछ ऐसी सामग्री उपलब्ध होती है जिससे हम उनके काल के सम्बन्ध में 'इदमित्यम्' निर्धारण करने के सूत्र भी पाते हैं। यहाँ संक्षेप में उन साक्ष्यों एवं प्रमाणों के साथ विश्वनाथ की कालस्थिति पर विचार किया जाता है।

'साहित्यदर्पण' में अलावदीन नूपति (सुलतान अलाउद्दीन १२६५—१३१६ ई०) का उल्लेख है^१ तथा जयदेव के 'गीतगोविन्द'^२ नैपथ्योपचरित^३

१ साहित्यदर्पण परिच्छेद ४ :

सन्धो सर्वस्यहरणं निग्रहे प्राणविग्रहः ॥

अलावुद्दीननूपती न सन्धिनं घ विग्रहः ॥

२. साहित्यदर्पण परिच्छेद १० ।

३. वही परिच्छेद ।

कृष्णानन्द कवि कृत 'सहृदयानन्द'^१ के छन्द उदाहरण रूप में उद्धृत किये गये हैं, एव रस के सम्यन्ध में धर्मदत्त के मत का उल्लेख है।^२ इन ग्रन्थकारों का स्थिति-काल (कृष्णानन्द तथा धर्मदत्त को छोड़कर) १२वीं शती के मध्य है, यह सर्वविदित इतिहास है। 'कृष्णानन्द' कवि सम्भवतः विरवनाथ के समकालिक एवं उनके तद्देशीय थे। वे भी विश्वनाथ की तरह किसी नृपति की राजसभा में सान्धिविग्रहिक-पद पर नियुक्त थे, उनके महाकाव्य की पुष्पिका में इसका उल्लेख है—'इति श्री सान्धिविग्रहिक सकलकवि—कुसुमोत्तिमण्डन श्रीकृष्णानन्द-कृत सहृदयानन्द महाकाव्ये। कलिंग नरेश चतुर्थ का एक ताम्रपत्र मिलता है जिसमें 'कृष्णानन्द सान्धिविग्रहिक महापात्र' का उल्लेख है^३ ताम्रपत्र का समय वही हो सकता है जो नरसिंहदेव चतुर्थ का शासनकाल—१४१४ ई० है। ये कलिंगनरेश नरसिंह चतुर्थ १४वीं शती के उत्तरार्द्ध से १५ वीं शती के प्रथम शतक में शासनारुढ थे।^४ अतः 'सहृदयानन्द' के रचयिता कृष्णानन्द की कलिंग में ही स्थिति होने के कारण उनका कविराज विश्वनाथ के समकाल होता बहुत सम्भव है जिसके कारण उन्होंने अपने समकालिक परिचित कवि के छन्द को 'साहित्यदर्पण' में उद्धृत किया, क्योंकि 'सहृदयानन्द' 'गीतगोविन्द' 'नैषधीयचरित' के समान ऐसा प्रथित महाकाव्य नहीं था कि उसका उल्लेख सामान्यतया लक्षण-ग्रन्थों में किया जाता। कृष्णानन्द नरसिंह चतुर्थ की सभा में थे, नरसिंह चतुर्थ का समय १४वीं शती उत्तरार्द्ध है, अतः कृष्णानन्द के कृतित्व का उल्लेख

१. वही परिच्छेद।

२. तवाह धर्मदत्त स्वग्रन्थे—

रसे साररचमत्कारः सर्वश्राप्यनुभूयते,
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वश्राप्यद्भुतो रस,
तस्माद्भुतमेवाह कृतो नारायणो रसम्॥

—साहित्यदर्पण परिच्छेद ३।

३. ".....तत्र विजय समये पार्श्वे महापात्र कृष्णानन्द सान्धिविग्रहिक
महापात्र सायङ्कराय आचार्य, महापात्र गोपीनाथ सान्धिविग्रहिक...।

४. डिस्क्रिप्टिव कैटलॉग—संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स प्राक उद्घोषा पृ० ७४।

करनेवाले कविराज विश्वनाथ के स्थिति-काल की पूर्व सीमा १४वीं शती का पूर्वार्द्ध हुई। अर्थात् इसके पूर्व विश्वनाथ की स्थिति नहीं होनी चाहिए।

अब पर—सीमा पर विचार करें। 'प्रतापसूयशो-भूषण' के टीकाकार कुमारस्वामी ने टीका में 'साहित्यदर्पण' का उल्लेख किया है।^१ 'काव्य प्रकाश' के टीकाकार गोविन्दठक्कर ने अपनी प्रदीप-टीका में कविराज विश्वनाथ के मत की आलोचना की है।^२ गोविन्द ठक्कर का उल्लेख काव्यप्रकाश के टीकाकार कमलाकर भट्ट ने किया है, कमलाकर भट्ट की टीका १६१२ ई० में लिखी गयी।^३ अतः गोविन्द ठक्कर १६४० ई० के पूर्व रहे होंगे। कुमारस्वामी विजयनगर सम्राट् मल्लिकार्जुन की सभा को अलंकृत करते थे, यह मान्यता है। मल्लिकार्जुन देवराय द्वितीय के पुत्र थे, देवराय द्वितीय की मृत्यु १४४६ ई० में हुई, उसके बाद ही मल्लिकार्जुन सिंहासमारूढ़ हुए।^४ अतः १४५० ई० कविराज विश्वनाथ के स्थिति-काल की पर-सीमा हुई।

ऊपर निर्धारित पूर्व एवं पर-सीमा के अनुसार कविराज विश्वनाथ १४वीं शती ई० उत्तरार्द्ध से लेकर १५वीं शती ई० पूर्वार्द्ध के बीच किसी अवधि में वर्तमान थे।

इनके स्थिति-काल के सम्बन्ध में और निकटतम प्रमाण हमें उपलब्ध है। विश्वनाथ के पिता चन्द्रशेखर भी सान्निधिग्रहिक एवं कई भाषाओं के कवि थे।

१ सम्मोहानन्द सम्भेदो मदोमद्योपयोगज' इत्यादि साहित्यदर्पणे।
(परिच्छेद ३।१४६)

२ अर्वाचीनास्तु 'यद्योक्तस्य काव्य सक्षरणत्वे काव्यपदं निर्विषयं प्रविरल विषय वा स्यात्।' (प्रदीप) —अविरलविषयं वा निर्विषय वा स्यात्' (साहित्यदर्पण। परिच्छेद प्रथम।)

३ वसुश्रुतु श्रुतुभूमिते गतेऽब्दे नरपतिविक्रमतोऽप्य याति रौद्रे।
तपसिशिवतियौ समापितोऽयं रघुपतिपादसरोरुहेऽपतश्च ॥

४. भारतीय इतिहास का उन्मीलन पृ० ४२१।

उनका एक छन्द विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के व्यञ्जना प्रकरण में उद्धृत किया है,^१ जिसमें श्लेषसे शिव-भवानी तथा राजा भानुदेव और उनकी रानी उमादेवी का वर्णन है। स्वयं विश्वनाथ ने छन्द की टिप्पणी करते हुए इसका स्पष्टीकरण किया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि विश्वनाथ के पिता राजा भानुदेव की सभा में सान्धिविग्रहिक थे। भुवनेश्वर के लिंगराज मन्दिर के भार्यवर्ती पार्वती मन्दिर में एक शिलालेख प्राप्त है जिसमें भानुदेव तथा महारानी उमादेवी का नामोल्लेख है।^२ इसी प्रकार विशाखापत्तन के सिंहाचलम् मन्दिर के भी एक शिलालेख में उमादेवी का नाम मन्दिर-निर्माण के लिए धनदात्री के रूप में उद्धृत है।^३ इस द्वितीय शिलालेख का समय १३७६ ई० है। १३७६ ई० से १४११ ई० तक नरसिंह भानुदेव चतुर्थ ने राज्य किया है जिनके पिता-माता भानुदेव और उमादेवी थे। १३७६ ई० का शिलालेख जिसमें केवल उमादेवी का ही नाम है, उनके वैधव्य-काल का है उस समय उनके पुत्र नरसिंह भानुदेव चतुर्थ राज्य कर रहे थे। काविराज विश्वनाथ ने अपने पिता चन्द्रशेखर का उल्लेख 'साहित्यदर्पण' में सान्धिविग्रहिक विशेषण के साथ किया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वनाथ ने जब 'साहित्यदर्पण' लिखा उनके पिता चन्द्रशेखर सान्धिविग्रहिक पद पर थे। और विश्वनाथ ने परम्परागत उपाधि के रूप में उक्त विशेषण का उल्लेख किया होगा। भयवा न भी रहे हो तो भी चन्द्रशेखर ने उक्त छन्द भानुदेव की प्रशस्ति में तब लिखा है जब भानुदेव और उमादेवी दोनों जीवित थे, अतः यह घटना १३७६ ई० किंवा १३७३ ई० के पूर्व

१ दुर्गासङ्घत विग्रहो मनसिज सम्मोलयस्तेजसा—
प्रोद्यद्वाजकुलो गृहीतगरिमा विष्वङ्गतो भोगिनि ।
नलत्रेश कृतेशलो गिरिगुरो गाढां शँच धारयन्,
गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्पुमावत्तम ॥

२ स्वस्ति श्री भानुदेवस्य प्रवर्द्धमान विजयराज्ये प्रयोदशाङ्गुलभित्तित्य-
माने श्री उमादेव्या.... ।

३ उद्योता हिस्टोरिकल रिसर्च जनरल भाग ३, पृ० १४६ ।

की है। पिता चन्द्रशेखर की मृत्यु के पश्चात् पिता के स्थान पर ही कविराज विश्वनाथ को नरसिंह भानुदेव चतुर्थ ने अपना सान्धिविग्रहिक निम्नोक्त किया होगा।

भानुदेव तृतीय के पश्चात् कविराज विश्वनाथ का स्थिति-काल नितान्त स्पष्ट है। किन्तु हम इसे बहुत दूर नहीं ले जा सकते। क्योंकि सान्धिविग्रहिक का पद अपने पिता के स्थान पर ही कविराज विश्वनाथ को मिला होगा। चन्द्रशेखर की उक्त प्रशस्ति भानुदेव तृतीय के जीवनकाल की है जिसका शिलालेख पार्वती-मन्दिर में है। इन राजाओं का वंशवृक्ष इस प्रकार प्राप्त होता है—

कविराज उल्लासदास के आश्रयदाता नरसिंह तृतीय (१३२८-१३५८) चन्द्रशेखर के आश्रयदाता नरसिंह भानु तृतीय (१३५३-१३७८) विश्वनाथ कविराज के आश्रयदाता नरसिंह चतुर्थ या निरशंक भानुदेव (१४००-१४२०) रहे। और इन्हीं की सभा में विश्वनाथ जी का लेखन-कार्य प्रारम्भ हुआ।

जिस अलाउद्दीन का उल्लेख विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में किया है वह खिलजीवंश का दिल्ली का सुलतान अलाउद्दीन ही है, दूसरा नहीं। उसके क्रूर व्यवहार की ही प्रसिद्धि इतिहास में है। एक अलाउद्दीन बहमनी राज्य में भी हुआ है जिसका शासनकाल १४३५-१४५८ ई० तक रहा है। उसके समकाल या बाद में विश्वनाथ की स्थिति नहीं हो सकती। क्योंकि विश्वनाथ के पिता चन्द्रशेखर १३७३ ई० के पूर्व भानुदेव की प्रशस्ति लिखते हैं, यदि उस समय भी हम विश्वनाथ का जन्म स्वीकार करें तो १४३५ तक ६० वर्षों से ऊपर का समय शीत जाता है, जिसके बाद हम 'साहित्यदर्पण' की रचना और उसमें बहमनी के अलाउद्दीन शासक का उल्लेख सम्भव नहीं मान सकते।

चन्द्रशेखर की उक्त श्लेषात्मक प्रशस्ति की है, इसलिए वह प्रशस्ति भानुदेव के पुत्र के समय की न होकर भानुदेव के समय की होगी, यतः श्लेष अलंकार में प्रच्छन्न प्रशस्ति राजा की, की गयी है। जो सामने सुनाये जाने के औचित्य का संकेत करती है, यदि भानुदेव के पुत्र के समय यह प्रशस्ति लिखी गयी होती तो प्रशस्ति का रूप श्लेष-प्रच्छन्न न होकर और भी प्रकट होता।

यतः १३७३ ई० में सान्धिविग्रहिक पद पर विश्वनाथ के पिता चन्द्रशेखर

की स्थिति स्वीकार कर लेने पर यह मानना पड़ेगा कि विश्वनाथ का जन्म उसके पूर्व १३५० ई० के लगभग, अवश्य हो गया रहा होगा। और 'साहित्यदर्पण' की रचना १३८० से १४४० ई० के बीच कभी हुई होगी। और कविराज विश्वनाथ १४वीं शती के उत्तरार्द्ध तथा १५वीं शती ई० के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे। 'चन्द्रकला नाटिका' की क्यावस्तु भी उनके आश्रयदाता से सम्बन्धित है, इस नाटिका की रचना भी उन्होंने अपने और अपने आश्रयदाता के जीवन-काल के प्रथम चरण में की होगी। अर्थात् १३७५ से १३९० ई० के बीच में। गजपति राजाओं के वंशवृक्ष-क्रम में विश्वनाथ नरसिंहदेव चतुर्थ के सान्धि-विग्रहिक थे। सिंहावलम्ब मन्दिर के एक शिलालेख^१ से ज्ञात होता है कि नरसिंहदेव ने पण्ड अभिषेक वर्ष के उपलक्ष्य में एक नयी प्रथा का प्रचलन किया जिसे 'निशक-भानुमोग' की सजा दी गयी। स्पष्ट है कि नरसिंहदेव चतुर्थ 'निशक भानुदेव' नाम से भी ख्यात रहे। इन्हीं के दरबारी और अपने समकालिक कवि कृष्णानन्द महापात्र के काव्य 'सहृदयानन्द' के छन्द विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में उद्धृत किया है। अस्तु! नरसिंहदेव चतुर्थ के पुत्र निशकभानु की किसी विजय के उपलक्ष्य में 'चन्द्रकला' की रचना का अनुमान करना समीचीन नहीं है। उनकी रचनाओं के क्रम में 'चन्द्रकला नाटिका' का स्थान प्रथम, 'प्रशस्ति रत्नावली का चतुर्थ और 'साहित्यदर्पण' का सप्तम या अन्तिम होना चाहिए। क्योंकि इन ग्रन्थों में उन्होंने अपने भाषा ज्ञान की यथोत्तर वृद्धि का परिचय दिया है, नाटिका में १४ भाषाओं का विद्वान् 'प्रशस्ति रत्नावली' में १६ भाषा का तथा 'साहित्य-दर्पण' में १८ भाषाओं का विद्वान् उन्होंने अपने को कहा है।

चन्द्रकलानाटिका—स्वरूप और समीक्षा

'चन्द्रकलानाटिका' की प्रस्तावना में विश्वनाथ ने स्वयं को 'नाट्यवेददीक्षागुरु' सूत्रधारा द्वारा कहलाया है। अर्थात् यह कृति नाट्यशास्त्र के पारंगत आचार्य और कवि की रचना है। जैसा कि विश्वनाथ ने अपनी आत्मप्रशस्ति की है उसके

अनुरूप^१ इसका निबन्धन भी है। आगे इसकी कसौटी की जाती है।

सर्वप्रथम नाटिका की परिभाषा पर विचार करें—‘नाटिका में स्त्री पात्रों की अधिकता होती है चार अंक होते हैं, ललित अभिनय होता है। इसमें नायिका कामोपचार से और प्रसाधन (शृंगार) तथा क्रोध से युक्त होती है। नायक की दूती का समावेश और सारी घटनाएँ नायिका से विशेषतः सम्बद्ध होती हैं (नाट्यशास्त्र)-दशरूपककार धनञ्जय ने नाटिका का लक्षण इस प्रकार किया है^२—नाटिका में रानी ज्येष्ठ और प्रगल्भ होती है, राजवशोद्भूता, गम्भीर, मानिनी होती है। नायक-नायिका का समागम इसी के अधीन अत्यन्त कठिनाता से सम्पन्न होता है। ज्येष्ठा के हो समान नायिका भी राजकुलोत्पन्ना एवं दिव्या-मुग्धा और सौन्दर्य युक्त होती है। नायिका अन्तःपुर में होनेवाले संगीत आदि कार्यक्रमों से सम्बद्ध होकर प्रायः नायक के लिए ध्रुत और दृष्ट होती रहती है, नायिका के अनुराग में आवद्ध होकर नायक रानी के भय से शक्तिमत् मन प्रवृत्त हुआ करता है।’ स्वयं विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण पण्ड परिच्छेद में नाटिका की परिभाषा करते हुए लिखा है—

नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात् स्त्रीप्राया चतुरङ्गिका ।
 प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृप ॥
 स्यादन्तः पुरसम्बद्धा सङ्गीतव्याप्तताऽप्यवा ।
 नवानुरागा कन्याश्च नायिका नृपवराजा ॥

१. निजजनकसमधिगतनिहितसाहित्यतत्त्वस्थ—(प्रस्तावना) चन्द्रकला०

२. देवी तत्र भवेज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवराजा ।

गम्भीरा मानिनी कृष्णान्तर्नेतृद्वया संगम ॥

नायिका सादृशी मुग्धा दिव्याऽचाति मनोहरा ।

अन्तःपुरादि सम्बन्धावाप्तान्नायिका दर्शनं ॥

अनुरागेनयावस्यो नेतुस्तस्या यथोत्तरम् ।

नेतातत्र प्रायतेत देवी आतेन शङ्कित ॥

सम्प्रवर्तते नेतास्यां देव्यास्त्रासेन राज्ञित ।
 देवो पुनर्मवेत्येष्टा प्रयत्ना नृपवशना ॥
 पदे-पदे मानवतो तद्वश सङ्गमो द्वयो ।
 वृत्ति स्यात् कैशिकी स्वल्पविमर्षाः सम्पद्य पुनः ॥—

(पृष्ठा २८१ (३))

उपरिलिखित परिभाषाओं के अनुसार नाटिका वह कृति है जिसमें नायक धीरललित, नायिका मुग्धा (नवानुरागा) हो, चार भक्त हो, स्त्रीपात्रों की अधिकता हो । इन स्त्रीपात्रों में एक ज्येष्ठा रानी का होना अनिवार्य है । नायिका नृपकुलोत्पन्ना होनी चाहिए । इसमें नायक महारानी से संनस्त रहकर ही नायिका से अनुरागवद्ध होता है और उसी की वृथा पर दोनों का समागम सम्भव है । नाट्यशास्त्र प्रणेता भरत ने इससे अतिरिक्त नाटिका में नृत्य, गायन को भी आवश्यक बताया है । और राजोचित ढंग का स्वाग भी होना निरूपित किया है । घनञ्जय और विश्वनाथ ने 'कैशिकी वृत्ति' का होना अनिवार्य कहा जबकि आचार्य भरत इस विषय में मौन है । और दशरूपककार ने नाटिका को 'शृंगाररस प्रधान' बताया है ।

'नाट्यवेदोच्चासु' की कृति होने के कारण इसमें नाट्यशास्त्रीय समस्त लक्षणों का समावेश है । क्योंकि साहित्यदर्पण में उदाहरण के लिए इसे विशेष-रूप से रखा गया है । 'नाटिका में कुल चार भक्त हैं । सप्त स्त्री पात्र एवं धन्य परिचारिकाएँ हैं । नायक, नृप चित्ररथदेव की प्रियान सहिषी 'वसन्तलेखा' के ही माध्यम से नायक-नायिका के रागानुरागों को अकुरित, पुष्पित और धन्य में फलित होने का अवसर मिलता है । नायिका 'चन्द्रकला' नवोदा पाण्ड्यराज की द्वितीया कन्या और वसन्तलेखा की भगिनी है । इसमें विप्रलम्भ शृंगार का सफल संयोजन एवं सघटन हुआ है । कैशिकी वृत्ति का सम्यक् निर्वाह किया गया है—नाटिका की पूर्ण परिणति चित्ररथदेव और चन्द्रकला के परिणय में है । (कैशिकी वृत्ति का समग्र क्रिया—कलाप शृंगाररस से युक्त और काम-फल प्राप्ति का आयोजक होना चाहिए) । यह कैशिकी वृत्ति चार प्रकार की होती है—नर्म, नर्मस्फिञ्ज, नर्मस्फोट और नर्मगर्भ । विदग्ध ब्रीडा ही नर्म है

जिसमें प्रिय के आवर्जन का प्रयास किया गया हो। नर्मस्फिञ्ज वह है जहाँ प्रथम समागम में, यदि प्रारम्भिक अवस्था में सुप्त परन्तु अन्त में भय होता है। नर्मस्फोट वह है, जिसमें भावों के कतिपय अंशों के माध्यम से कुछ रस की सूचना मिले। और जब किसी प्रयोजनवश नायक प्रच्छन्न रूप में प्रवेश करे, तो उसे नर्मगर्भ कहते हैं।^१ कैशिकी वृत्ति का प्रयोग शृंगाररस में ही किया जाता है।^२ 'चन्द्रकला नाटिका' शृंगाररस प्रधान नाटिका है, इसमें 'कैशिकी' वृत्ति आवश्यक तथा उपयुक्त है। इसके चारों अङ्गों का नियोजन यथास्थान कथा वस्तु के अनुसार यथा साफल्य प्राप्त होता है। वैदर्भी-रीति-विभूषिता, प्रसाद गुण पूर्ण यह नाटिका नाट्यशास्त्रीय समस्त लक्षणों से युक्त सफल रचना है।

नाटिका का कथानक रसरज वसन्त के सरस वातावरण चित्रण के साथ प्रारम्भ होता है। ऋतुराज-वसन्त एवं रसरज शृंगार का पारस्परिक सम्बन्ध कितना समीचीन है। नाटिका का प्रारम्भ ही इस तथ्य का द्योतक है कि नाटिका शृंगाररस की अभिव्यक्ति में सफल है। 'विरचित विरहि कर्णज्वर वसन्त-समयम्' कहकर नाट्यकार ने नाटिका के कथानक, विषय, फल आदि का संकेत कर दिया है। और—

प्रभुश्चरपि निजां तां कुन्दलता सुधिरपुपभुक्ताम्

चुम्बति रसालवली अभिनवमपुगन्धिका भ्रमर ॥

कहकर विश्वनाथ ने नाटिका की सारी कथावस्तु को सक्षेप में कह डाला है—राजा चित्ररथदेव कुन्दलता रूपी अपनी महारानी वसन्तलेखा को बिना

१ यैदग्ध श्रीहितनर्मा प्रियोपच्छन्दनात्मकम् ।

नर्मस्फिञ्ज सुखारम्भो भयात्तो नवसङ्गमे ।

नर्मस्फोटस्तु भावाना सूचितोऽपरसोतवे ।

धृमनेतृ प्रतीचारो नर्मगर्भोऽयहेतवे ।—दशरूपक

२ शृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्वत्पारभटोपुन ।

रसे रीते च वीरस्ते वृत्ति सर्वत्र भारती ॥

त्यागे ही अभिनव-मधुगन्धिका रसालवल्ली रूपी, नवानुरागा चन्द्रकला के प्रणय-पाश में भ्रमर की भाँति आवद्ध हुए। अर्थात्—

शृंगार की विनियोजना का आभास प्रारम्भ में ही पाठक के लिए स्पष्ट हो जाता है। विष्कम्भक-योजना द्वारा चन्द्रकला की प्राप्ति की सूचना, आकाश-वाणी का कथन, कि उसका पाणिग्रहण करनेवाला राजा स्वयं लक्ष्मी का कृपा भाजन बनेगा, उससे मन्त्री सुबुद्धि ने उसे भ्रन्त करण में रख, उस (कन्या) को भ्रन्त पुर में गोपनीय ढंग से सुरक्षित किया, जिससे राजा के आकर्षण के लिए वह सहज स्थिति प्राप्ति कर सके, और उसका अभिलषित पूर्ण हो, यह सब सफलतापूर्वक प्रस्तुत कर दिया गया है। नाटिका का क्यानक सत्प्रेम में इस प्रकार है—

प्रथम अङ्क—चन्द्रकला के अनुराग में आवद्ध राजा चिन्तितावस्था में प्रस्तावना के पश्चात् उपस्थित होता है। उसका हृदय सर्वतोभावेन चन्द्रकला में अनुरक्त होने के कारण उस समय सहसा आगत विदूषक का भान न कर सका। परन्तु शीघ्र ही विदूषक अपनी उपस्थिति की सूचना तथा चन्द्रकला के प्रति उसके अनुराग का राजा से कथन कर देता है। अब दोनों—राजा और विदूषक उपवन में टहलते हुए अपनी सखी सुनन्दना के साथ आगत चन्द्रकला को लता-कुण्ड में छिपकर देखते हैं। जैसे ही चन्द्रकला माधवीलता के पुष्प तोड़ने का उपक्रम करती है, राजा स्वयं को उन पुष्पों को तोड़ने के लिए सादर प्रवृत्त कर देता है। चन्द्रकला शील-भज्जा के कारण वहाँ से जाना चाहती है, तब तक विदूषक—‘प्रजा के द्वारा राजा को अर्जित वस्तु का पष्ठाश प्रदान करना धर्म है, अतः चयन किए हुए पुष्पों का पष्ठाश दिये बिना यह मुंहारा जाना उचित नहीं है,’ कहकर उसे विस्तम्बित कर देता है। शीघ्रतावश मुन जाती हुई चन्द्रकला के हाथों से पुष्प गिर पड़ते हैं, राजा उन्हें उठाकर उसके अनुराग भिज्ञान स्वरूप अपने हृदय से लगाता है। उसी समय महारानी वसन्तलेखा की विश्वसनीया परिचारिका रतिकला के आग्रह से चन्द्रकला सुनन्दना के साथ लता कुण्ड में छिप जाती है। रतिकला राजा को महारानी के आग्रह की सूचना देकर चलने का आग्रह करती है। राजा जाना अनिवार्य समझ प्रस्थान करता

है परन्तु रहस्यवाणी द्वारा चन्द्रकला को पुनरागमन के लिए भावस्त भी कर जाता है ।

द्वितीय अङ्क—राजा, महारानी के साथ उपवन में विचरते हुए भी अपने हृदय को चन्द्रकला से दूर करने में सर्वथा असमर्थ है । प्रचानक एक कोलाहल सुनायी पड़ता है कि भयानक व्याघ्र उपवन में प्रविष्ट हो गया है । राजा तुरन्त महारानी को मन्त पुर में पारिचारिकाओं-सहित जाने का निदेश कर स्वयं उस व्याघ्र का वध करने के लिए सन्नद्ध होकर चलता है । परन्तु शीघ्र व्याघ्र विद्रूपक के रूप में परिवर्तित हो जाता है । यह रसालक का स्वाग केवल महारानी को हटाने और राजा-चन्द्रकला का समागम कराने के लिए जानबूझ कर किया गया था । वह तुरन्त राजा को चन्द्रकला से मिलने के लिए प्रमदोपवन के एकान्त प्रान्त में ले जाता है । वहाँ अपनी सखी सुनन्दना-सहित चन्द्रकला पहले से ही उपस्थित थी । सखी उससे राजा के अनुराग को असरय कहकर उपहास द्वारा उसके विरहताप को उत्तेजित कर रही थी कि राजा प्रकट होकर उसे सान्त्वना देने लगता है । तभी व्याघ्रवध से प्रसन्न महारानी वा राजा के पूजनार्थ भागमन जानकर चन्द्रकला मयमीत सी शीघ्रता में चली जाती है । जाते हुए उसके हाथ से भ्रँगूठी गिर पड़ती है । राजा उस भ्रँगूठी को उठाकर विद्रूपक को इस विचार से दै देता है कि वह इसे अपने वस्त्र में छिपाये रहे । तब तक महारानी वसन्तजेखा वही पहुँच जाती है । राजा की प्रार्थना होती है । विद्रूपक महारानी से पारितोषिक की माचना करता है । रानी उसे अपना हार दे देती है । वह तुरन्त गले में हार और भ्रँगुली में चन्द्रकलावाली भ्रँगुली पहिनकर 'मे जितना सुन्दर लग रहा है,' कहता है । भ्रँगूठी को महारानी पहिषाव लेती है । और द्रष्ट होकर मन्त पुर में चली जाती है । विद्रूपक राजा से महारानी को प्रगल्भ करने का वचन देता हुआ अपनी भूस स्वीकार करता है ।

तृतीय अङ्क—विद्रूपक को जब ज्ञात हुआ कि चन्द्रकला महारानी द्वारा सुनन्दना के घर में छिपा दी गयी है तो वह सुनन्दना से ही गुप्त मंत्रणा करके प्रमदवन के भण्डि महाद्वय में रात्रि के समय राजा का सम्मिलन कराने की योजना बनाता है । परन्तु असावधानीवश इस रहस्य का भान वह महारानी की परि-

के कारण प्रदान करने का पूर्व से ही निश्चय किया था। अतः अब आप महारानी की सहमति से उसके साथ पाणिग्रहण कर लें।

समाचार को सुनकर, तुरन्त मंत्री मुनुद्धि को बुलाया जाता है। वह समस्त वृत्तान्त बतलाता है। वह दिव्यवाणी की चर्चा कर अपनी सम्बन्धिनी के रूप में अन्त पुर में सरचित्त बराने का अपना प्रयोजन भी बतला देता है। उसके परचा चन्द्रबला उपस्थित की जाती है। पाण्ड्य देश से आये दोनों बन्दी अपने महाराज की उस द्वितीया बन्धा को देखते ही पहचान लेते हैं। महारानी वसन्तलेखा को अब अपने कृत्यो पर परचात्ताप होता है। अस्तु, प्रायश्चित्त सा करती हुई वह स्वयं राजा के साथ उसका पाणिग्रहण सम्पन्न कराती है। पाणिग्रहण के पश्चात् ही वहाँ महालक्ष्मी प्रकट होकर अभोष्ट वरदान देती है और अपने दर्शन से सभी को हृतार्थ करती है। भरतवाक्य के साथ नाटिका समाप्त होती है।

पात्र

राजा चित्ररथदेव—नाटिका के धीरे ललित नायक है। 'साहिबदर्पण' और 'दशरूपक' में निरूपित उन सभी गुणों का समावेश 'चित्ररथदेव' में है जो नाटिका के नायक के लिए आवश्यक विलिखित किये गये हैं।^१ वे प्रशस्त कुलोद्भूत हैं, शत्रुवर्ग को पराजित कर, निश्चित, समुग राज्य करते हैं। धोल, घोशल, धग, हावग, मोच, बाँची, मत्स्य, ज्येष्ठ, साट, बगुडि आदि के मगर अपने शौर्य एवं प्रताप का उसने महाप्रताप में विलय कर चुके थे। राज्य की आधोर सीमा पर उतका थवलमश प्रहरी बना रहता, वहीं, रिती भी प्रसार का शत्रु, द्रोह, आदि का भय न था। 'समस्त शत्रुता का विनाश करके, सर्वत्र राज्यशासन-संभालमार्थ त्रिगुण मन्त्रिगणों को नियुक्ति कर देन के कारण, आनन्द विहार-कौमुद आदि ही जितनी जीवन्मर्त्य हैं, ऐसे आगे लिए राज्य—शासन की

१. प्रदयातो धीरललितस्तत्र स्वाध्यायको गुण ॥

—सा० ६०/परि १—२८१

निश्चयतो धीरललित वसातल, मुनी मुदु ॥

—दशरूपक/प्रस्ताव ३

मात्र चिन्ता नहीं हो सकती ।'—प्रथमांक (विद्रूपक) सम्पूर्ण नाटिका में एक बल ऐसा नहीं है जहाँ यह आभास मिले कि राजा राज्य में शासन, शान्ति को सुदृढ़ एवं स्थापित करने की चर्चा करता हो, वह अपने सुहृद रसालक (प्रक) के साथ सर्वदा आनन्दोत्साह, हास, परिहास एवं 'लास' में मग्न है ।

वह धीर, गम्भीर, कलासक्त मृदु स्वभाव का पुरुष है । संगीत, कला, काव्य, कला का प्रेमी होने के कारण राजा ऐसे समस्त कलाकारों को उचित आदर सम्मान देता, उनकी कलाकृतियों को समादृत कर उसके प्रसार तथा विकास में योगदान देता था । उनके मंत्री सुबुद्धि का कथन—'देवों से अभिनन्दित इन्द्र ज्ञान, विद्वानों से प्रशंसित तथा अभिनन्दित, चन्द्र के समान समग्र कलाओं का स्वामी, सूर्य के समान अन्यो के प्रताप को निस्तेज करने वाले, शिव-सीति से अलङ्कृत महाराज विराजमान है । (प्रद्व. ४/६) । उसकी कला प्रियता व विचक्षणता तथा परस्पर के भावाभिव्यञ्जना के व स्थल, जहाँ वह अपनी प्रिया कला के सौन्दर्य अथवा स्वभाव का कथन करता है निस्सन्देह एक कवि-य का साक्ष्य देते हैं—'इसके दोनों चरण अर्हनिशि विकसित कमल के समान, वदनी-स्तम्भ-सदृश, कटि भाग जैसे लावण्य के समुद्र में निमग्न द्वीप हो, तो उरोज उमस भज के जैसे कुम्भ हों और रत्न सा ऊपर की ओर उठाये हो । मुख चन्द्रबिम्ब की भाँति शोभित हो रहा है ।' (प्रद्व. १/१३) इस लावण्य शि में निमग्न राजा के मनोमत्त भाव देखिए—

वर प्रकाशे कुचकुम्भमूले द्रुत निपत्य द्रुतकर्बुरामे ।

लावण्यपूरे विनिमग्नमुच्चैर्न मे वदन्निव बहिरेति चेत् ॥

—(प्रथमांक/१५)

'मेरा हृदय उमने स्तोकोन्त, तप्त स्वर्ण-सदृश आभासित उरोज—कुम्भों के मूल प्रान्त के सुन्दर लावण्यपूर में इस प्रकार निमग्न हो गया है कि उससे नव-नवा मेर लिए दूबर हो रहा है ।' वितना रसित भाव है ।

उसकी धीरता, गम्भीरता एवं कुसीनता या उत्कृष्ट परिचय तो यही है कि श्वानुरागा धटवना में अनुरक्त मन भी वह अपनी महारानी वसन्तनेया के प्रति

अपने सम्मान, विनम्रता, सहनशीलता, स्नेह आदि के यावो में किसी भी में न्यूनता नहीं आने देता । यद्यपि वह चन्द्रकला की प्राप्ति में व्यवधान ही रही तथापि वह उसकी आकांक्षाओं पर कभी आघात नहीं होने देता, भरी महारानी को प्रसन्न करने के भी सारे प्रयास वह करता है । रसात्मक मणिमन्दिर में पहुँचने का रास्ता द्वारा धामनण वह तुरन्त स्वीकार कर वह उपस्थित हो जाने के लिए उसके साथ उपस्थित होता है । दूसरे अंक में वह वसन्त लेखा के साथ रात्रि में स्वच्छ ज्योत्स्ना-स्नात सरोवर-कमल का सौन्दर्य देखता है, उसके कमल-मुख की प्रशंसा करता है । यह सब उसके मृदु-स्वभाव का ही परिणाम था ।

राजा चित्ररथदेव नाटिका के लिए सर्वथा उपयुक्त नायक है । यही कारण है कि नाटिका के अन्त में सदाश्री ने उसके दो अभीष्टों के पुरा होने के लिए अपनी स्वीकृति दी है—

आत्सङ्गतायक मातर्मा विमुञ्च कुलं मम ।

अथावविरत भक्तिरपि मेऽव्यभिचारिणी ॥

—अङ्क ४

‘जनभि ! जब तक आकाश में चन्द्र और सारिकाओं का अस्तित्व रहे, तुम्हारे कुल का त्याग मत करो और मुझे सदा अपना सेवक, दास स्वीकार करो ।

चन्द्रकला—‘नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवशजा’ (सा० ६० । परि० ६) के अनुसार चन्द्रकला नाटिका की सर्वगुण-सम्पन्ना नायिका है । यह पारङ्ग्येश्वर की द्वितीया कन्या और महारानी वसन्तलेखा की कनिष्ठाभगिनी है (यत् किल वनविहारावसरे देव्या समानोदरा प्रभा काचित् कुमारिका केनचिदपहृत्य नीता [अंक ४] पारङ्ग्येश्वर के यहाँ से आए बन्दिमणों के यह कहने पर महारानी ने आँखों में आँसू भरकर कहा—बहिर्णा ! कुदो उष वट्ठेदि (भगिनि ! तुम अब कहाँ हो ?) इसके पूर्व प्रथम अंक प्रस्तावना में मन्त्री सुवर्दि का कथन— राजवंशजेयमिति कथयित्वा मत्परितोषकाक्षिणा मदन्तिक प्रहिता’ को उसके नृपकुलोत्पन्न होने की पुष्टि करता है ।

‘नायिका तादृशी मुक्ता दिव्याचातिमनोहरा’ नाटिका की नायिका की

मुग्धा, दिव्य और सौन्दर्यवती होना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्त पुर से सम्बद्ध होने के कारण नायक के लिए धृत तथा दृष्ट होती चाहिए, साथ ही नायक के प्रति इसका अनुराग प्रारम्भ होकर उत्तरोत्तर बढ़ते रहना चाहिए। (दशरूपक। काश-३) इस निरूपण के अनुसार 'चन्द्रवत्ता' सर्वथा शास्त्रीय लक्षण से युक्त पायिका है। वह सुन्दर है, लज्जावती, मृदुस्वभावा, धीवर्णमयविकारपूर्ण, मुग्धा है। अन्त पुर से सम्बद्ध है—'सुबुद्धि—मम वशजेय सखीपदे स्थापयित्वा परिपालितोयेति सादर समर्पिता देव्या' (महारानी के ही अन्त पुर में अपनी उम्बग्विनी कहकर रखवा दिया है।) भत्री सुबुद्धि ने रानी के सात्त्विक में सप्रयोजन रखवाया, जिससे राजा की दृष्टि उस पर पड़े, दोनों का अनुराग हो, फिर अन्त में परिणय सम्भव हो सकेगा। क्योंकि—

यस्तु भूमिपतिर्भूमौ पारिमत्या प्रहीष्यति ।

लक्ष्मी स्वयमुपागत्य वरमस्मै प्रदास्यति ॥

—प्रथमाङ्क / ६

उसके रूप लावण्य के सम्बन्ध में भी स्वयं भत्री ने 'निरपम सौन्दर्य-दीप्तीरिव' कहकर अनिन्द्यसुन्दरी के रूप में स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त उसकी सुन्दरता का वर्णन राजा चित्ररथदेव ने, और पाण्ड्येश्वर के यहाँ से आगत बन्दिगणों ने भी स्पष्टतया किया है—'भुवनो का भलकार, विधाता के निर्माण-कौशल का विकास, युवकों के नेत्रों की मादकस्थली एवं समस्त सुन्दर-लक्षणों की भूमि थी (अंक ४।७)। राजा ने उसके अनुपम सौन्दर्य का कथन इन शब्दों में किया है—

सा दृष्टिनयनीलनीरजमयी वृष्टिस्तवप्यानम

हेलामोहनमश्रयप्रजनिताकृष्टिर्जगच्चेतस ।

॥ अस्तिरभङ्गशाङ्गघनुषो यष्टितयास्यास्तनु—

सर्वव्याप्तपूरपूरणमयी सृष्टि परा वेषस ॥

—अंक १।७

अन्त पुर में रहने के कारण चन्द्रकला से राजा को, राजा के चन्द्रकला को,

सहज अनुराग होता है। और वह अनुराग शनै शनै वर्द्धित होकर अन्त में दोनों के परिणय-सूत्र-बन्धन के रूप में प्रकट हुआ। नायिका चन्द्रकला नाट्य शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार 'मुग्धा' श्रेणी की नायिका है। 'नववया', नव कामनावती, रतिप्रतिकूला और क्रोध में कोमल (मुग्धानववय कामा रती वाम मृदु क्रुधि)—दशरूपक प्रकाश ३। प्रयत्न जिसकी यौवनावस्था का प्रथम चरण हो, काम-भावो का प्रथम प्रवेश हो रहा हो, रति में अहचि सी रखती हो एव क्रुद्ध होने पर सहज में ही प्रसन्न हो जाय उसे मुग्धा कहते हैं। चन्द्रकला, महारानी वसन्तलेखा की कनिष्ठा भगिनी होने के कारण नववयस्का सी है ही। प्रथमाश्रु के अष्टजट्टमहर्निश—शीतघुतेर्मण्डल से उसके नवयौवना होने के पूर्ण लक्षण स्पष्ट हैं। और राजा के 'निश्चित ही इसके भी अन्त करण में काम भावो का विकार अंकुरित हो रहा है' (नूनमियमन्तनिहित मदनविकारा वर्तते—अक १) कथन से वह नवकामवती है। राजा के प्रथम दर्शन के पश्चात् ही अनुराग भाव जो उत्पन्न हुआ वह इतना प्रगाढ़ हो गया कि उसे राजा का वियोग असह्य होने लगता है। अननुभूत वियोग-ताप-दुःख से वह अत्यन्त ही व्याकुल हो उठती है—'वियोगावस्था का यह प्रभाव मृगनयनी चन्द्रकला परिपक्व लवली फल के सदृश पीतवर्ण सीख हो रही है, केशराशि उरझ गयी है (क्योंकि प्रसाधन करने का प्रवसर ही नहीं है) अपने शरीर की कोमल नलिनीपत्र-शम्या पर रखे हुए है—(अक १।११)।

वह शीतस्वभावा अत्यन्त लज्जावती भी है। अपनी सखी सुनन्दना के साथ विचरती हुई जब भी राजा को वह देखती है, उसका मुख नम्र हो जाता है। स्वयं उधर देखना नहीं चाहती और सखी के वार्तालाप में भी कोई विशेष रुचि नहीं दिखाती वह अलगव सा उत्तर देती है—

१. प्रथमावतीर्ण यौवनमदनविकारा रती वामा।

कथिता मृदुश्च माने समधिकसज्जावती मुग्धा ॥

—सा० द० परि० ५

हसति परितोपरहितं निरीक्ष्यमाणपि नेशते किमपि ।

सत्याभुदाहरन्त्यामसमञ्जसमेषोत्तरं दत्ते ॥

शंक १।१४

विदूषक रसालक द्वारा चयन किए गये पुष्पों का पछारा राजा की सम्पत्ति होने के कारण प्रदान करने की बात बही जाने पर वह वहाँ से तुरन्त हट जाना चाहती है । राजा के सामने वह स्नान में असमर्थ थी परन्तु अनुराग भावाभिव्यक्तात् उसके हाथ के पुष्प गिर पड़ते हैं । ये सारे क्रिया-बलाप क्या उसके अनु-रागवती, लज्जाशीला होने की पुष्टि नहीं करते । अस्तु । यह मृदुलभावा, कोमल स्वभावा होने हुए भी संगीत एवं चित्रकर्म आदि में निपुण नहीं है । परन्तु रूप लावण्य की भूमि होने के कारण वह अपने पाणिग्रहण से सनाथ राजा चित्ररथदेव को महालक्ष्मी का कृपापात्र बना देती है ।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि नाटिका की नायिका चन्द्रकला नाट्य-शास्त्रीय लक्षणों से युक्त सर्वगुण सम्पन्ना है ।

वसन्तलेखा—वह पाण्ड्य नरेश की ज्येष्ठा कन्या, महाराज चित्ररथदेव की प्रधान महिषी है । उसी के अधीन नायक-नायिका (राजा और चन्द्रकला) का पूर्णतया सम्मिलन हुआ । 'तदिदं द्विजनिवेदितं यदा च वसन्तलेखा अनु-जानाति तदा मदनुमत एव गृह्णातु पाणिमस्या देव' इति । (पाण्ड्याधिपति के बन्दिगणों ने कहा—जिसका समाचार ब्राह्मणों ने भेजा था, उस कन्या के साथ प्राप्त, यदि वसन्तलेखा अनुमति दे तो पाणिग्रहण कर लेने की—मेरी स्वीकृति है ।'—अंक ४) वस्तुतः समस्त कथानक देवी वसन्तलेखा में ही केन्द्रित है, वही नायक-नायिका के पारस्परिक अनुराग के अकुरुण, पल्लवन, एवं अन्त में फलित कराने का श्रेय धारण करती है ।^१ नायक एवं नायिका दोनों ही इसमें भयभीत,

१ सम्प्रवर्त्तत नेतास्यां देव्यास्त्रासेत गङ्गित ।

● ●

पदे पदे मानवतीतद्वत्स संगमो द्वयो ॥

—सा० दर्पणापरि० ६

संशय रहने हैं। जैसा कि नाट्यशास्त्रीय देवी की होना चाहिए, सभी गुणों पर वह सम्पन्न है। वह प्रगल्भ, मानवती, नृपवंशजा है। वह प्रौढ़ा युवती है। रागानुराग के भावानुभावों के प्रकट गोपन आदि क्रिया-कलाप में सर्वथा निपुण है। रात्रि की चन्द्र-ज्योत्सना में राजा के साथ प्रमदोपवन में विचरती हुई उत्सव मन देगिए—एतेन किल प्रमृतमयूखेन दोषिकाकुमुदिन्याः कितलपकरे स्वपने करोऽपि तो पतंते। तद्विदार्जो एतयोः परिणयार्थं तव सन्निधानमाश्रमं मा काक्षते—अंक २ (दोषिका में स्थित कुमुदिनी का कर स्वयं ही सुधारशिमयों प्रातिगित हो रहा है, अतः यहाँ तो इनके विवाह के लिए मात्र आपकी उपस्थिति की ही मुझे आवश्यकता है।) राजा एक बार उसके मुख-कमल प्रशंसा करके छलने का प्रयास करता है परन्तु उसके उलाहना देने पर 'जानामि यथा किल ते असाध्य एव सकलोऽपि अस्मास्वनुरागवन्ध — वह इस इच्छा की पूर्ति निवारा हो करता ही है।

व्याघ्र-जनित बोलाहल से भयभीत होकर 'भारवयं। कथं व्याघ्र।' राजा का प्रातिगत वर उठती है। राजा 'प्रिये न भेतव्यम्, न भेतव्यम्' कह कर उसको अन्त पुर में जाने का आदेश देता है और स्वयं उसका (व्याघ्र) वध के लिए प्रस्थान करता है। व्याघ्र का स्वाग रसालक की योजना थी। योजना का भेद किसी को मालूम न था। अन्त में कृत्रिम व्याघ्र वध किया हुआ बताया गया। व्याघ्र वध से हर्षित महारानी आकर राजा की प्रार्थना करती है। वही महारानी, जब माधविका द्वारा यह जान लेती है कि रसालक, राजा व चन्द्रकला से मणिमण्डप में मिलन करायेंगा, वह स्वयं भी वहाँ पहुँच जाती है। चन्द्रकला, सुनन्दना, रसालक तीनों को वह बन्दी बनवाकर कारावास का दण देती है (अंक ३) उसे अपने प्रिय का अन्य रमणी के साथ प्रणय-निबन्धन स्वीकार नहीं है।

अन्त में इस महारानी वसन्तलेखा का चरित्र कितना उज्ज्वल होकर प्रकट होता है कि वह स्वयं चन्द्रकला का राजा के साथ परिश्रम करारकर परमानन्द और सन्तोष का अनुभव करती है—'महाराज मेरे माता-पिता की और मेरे अनमति से आप इसका पाणिग्रहण करें। (अखण्ड ! अस्तु विद्योपमं माप्यतः

गया करे इरानी गृहार्णवाम्—धर्म ४)। इस प्रकार हम देताते हैं कि वगन्त मेवा नाटिका की सर्वगुणोपेता ज्येष्ठ नामिका है। नामा एवं नामिका के परचात् वस्तुतः इसी का नाटिका में महत्व है।

रसात्मक—रसालम्ब राजा चित्ररथ देव का सुहृद-विदूषक है। यह राजा के प्रत्येक कार्य में (चाहे वह प्रणय-व्यापार हो अथवा मनोरंजन) सहायक के रूप में नाटिका के प्रारम्भ से अन्त तक उपस्थित है। प्रकृत्य यह वाचाल, परिहाम-प्रिय, वाक्पटु एवं स्वाभिमानों युक्त है। मनमानुसार यथोचित वेशधारण, शरीर प्रदर्शन-क्रिया सम्पादन आदि में रुचि, बलह-रति दोनों में रचि रखने वाला, यथावसर पठिता वाणों-बुरास है। शास्त्रीय पक्षों एवं भाषाओं के विवेकानुसार ही इसका नाम रसात्मक है। वह ब्राह्मण के सभी गुण, भोजन, पारितोषिक आदि ग्रहण करने में सदा उत्सुच रहने वाला, सुस्वादु, मिष्ठान्न का अत्यधिक प्रेमी है—उसे भोजनप्रसून श्रोतएड की मूर्ति और अशोक के गुच्छे मोदक-सदृश प्रतीत होते हैं। (अङ्क १।१२)। राजा के साथ विचरते हुए वह प्रकाशित चन्द्रमा के मण्डप और बिखरती किरणों की उपमा किस प्रकार नवनीत पिण्ड और दुग्ध धारा से दे रहा है^१।

विदूषक राजा का सर्वत्र सहायक है। जब उसने चन्द्रकला से राजा के सम्मिलन का अवसर सहज में प्राप्त होना असम्भव देखा तो सपरिवार महारानी को हटाने का तुरन्त उपाय ढूँढ निकाला, उसने तुरन्त व्याघ्र का स्वाग निर्मित किया और सफलता भी मिली। वह एक व्युत्पन्नमति भी है। किसी भी बात का प्रकाट्य उत्तर देने में वह कभी नहीं चूकता। उसने प्रत्येक कथन में परिहास का सम्मिश्रण अवश्य रहता है। तद्विवानोमेतस्य प्रिय निवेद्य सकलानामपि ममि वराणां किरति चरण वास्यामि ।' (अंक ३) कितना व्यञ्जनपूर्ण वाक्य है, उसक

१. कुमुदवसन्ताद्यभिष कर्मवपुर्वेशभाषायां ।

हास्यकर कस्हरति विदूषक स्यात् स्वकर्मि ॥ सा०६० । परि०

२ एष शशधरविम्बो दृश्यते हैमङ्गवीनपिण्ड इव ।

एते अस्त्र मयूखा यतन्ति आशासु दुग्धधारा इव ॥ अंक २।८

दक्षता का पूर्ण परिचय मिलता है। 'गर्भंदास्या सुनन्दनाया. कठोरस्तनभरेणा-
पीडन गुरुक मेऽङ्ग बाधते (अंक ३) महारानी की परिचारिकाओं को वह 'गर्भ-
दास्या, दुहितर दास्या दुहितर' कहने का अभ्यस्त था। एक कथनोपकथन
देखिए—

राजा—सखे किमन्यत् । अनया सखु वध्वा निजगुणसधंभुंश समाकुष्ट-
चेतस प्रसभ हृदये दिवानिश मे भवति मदनानलो ज्वालित ।

विदूषक—भारचर्यम् । तदब्रिलम्बित परिसृत्य दीर्घकोदधृतसलिलद्रुम्भेन
निर्वाप्यतामेव बह्नि ।

रसालक वस्त्र और आभूषणों का भी परम प्रेमी है। जब राजा न चन्द्र-
कला की भँगूठी उसे वस्त्रों में छिपाने के लिए दी तो उसने रख लिया। फिर
जब महारानी। उसके 'किमिति न ददाति मे पारितोषिक देवी' कहने पर हार
निकालकर देती है तो वह तुरन्त उसे गले में एव चन्द्रकला की भँगूठी भँगुली में
पहनकर कहता है—'दास्या दुहितर प्रेक्ष्य मे सौन्दर्यम्'।

इसके अतिरिक्त नाटिका में अमात्य सुबुद्धि, सुनन्दना, रतिकला, माधविका
एव पाण्ड्यदेशागत बन्धियों का नाम उल्लेखनीय है।

सुबुद्धि—यह महाराज चित्ररथ देव का मंत्री, राज्य-शासन का सचालक है।
नाट्यशास्त्राचार्य के अनुसार, धीरललित नायक की सिद्धि का श्रेय उसके मंत्री
पर निर्भर करता है।^१ नाटिका का नायक चित्ररथ देव धीरललित नायक है।
उसकी सफलता वस्तुतः मंत्री सुबुद्धि की कार्य कुशलता से हो है। वह नीति
पटुता के साथ शासन का संचालन करने वाला है। राज्यपालननियुक्तधी सचिव
(प्रथमाक)। यही नहीं वह सदा राजा के हितों के चिन्तन एव साधन में रत
दिखाई पड़ता है। यद्यपि उसकी उपस्थिति नाटिका के प्रथम और चतुर्थ अंक
के अतिरिक्त कदापि नहीं हुई है। तथापि उसका महत्त्व नाटिका के समस्त कार्य
व्यापार सम्पादन में न्यून नहीं कहा जा सकता। विक्रमाभरण द्वारा प्राप्त कन्या

को देत घौर दिव्यवाणी, यम्तु भूमि....प्रदास्यति वा श्रवण कर उसने तुरन्त चित्ररपदव को हिन कामना से भी बर उनकी पाणिग्रहीता बन सके, तुरन्त— 'मम वशजेयं समीपदे—समर्पिता देव्या' रानी के अन्त पुर में गोपनीय रीति से सरस्तिन कर दिया। पाण्ड्येश्वर के बन्दिगणों के आगमन पर जब उससे पूछा गया सभी उसने इस रहस्य का उद्घाटन किया।

सुनन्दना—महामात्य सुबुद्धि की शिखसनीया दासी है।

रतिक्ला—महारानी वसन्तलैला की एवमात्र शिखस्ता दासी है। उसकी सारी आस्था रानी में ही है।

माधयिका—अन्त'पुर की एक परिचायिका है।

बन्दीगण—पाण्ड्येश्वर के यहाँ से आगत बन्दिगणों का कार्य उनके अनुरूप रहलाय है।

साहित्यिक-सौष्ठव

'चन्द्रकला' की नाटकीय-समीक्षा और उसका नाट्य वैशिष्ट्य हम लिख चुके हैं। नाट्य-वैशिष्ट्य के ही साथ इस कृति में काव्य-सौष्ठव को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। विश्वनाथ जी ने दो काव्यों की भी रचना की थी, इससे उनकी काव्य-प्रतिभा सहज ही सिद्ध है। इससे प्रतिरिक्त साहित्य-दर्पण के तृतीय, पष्ठ, सप्तम, अष्टम, और दशम परिच्छेदों में इसके कुल तीरह छन्द, रस, ध्वनि, मुख अलंकार आदि के विवेचन प्रसङ्ग में उद्धृत किये गए हैं। अतः हम कह सकते हैं कि यह नाट्यकृति साहित्यिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। प्राञ्जल भाषा, वैदमीरीति और वैशिकी वृत्ति बनाय इस नाटिका में, प्राकृतिक उपादाना, नायक-नायिका के मनोगत भावों के चित्रण सहज ही हमें एक रस-भाव-सिद्ध कवि का स्मरण कराते हैं। गद्य और पद्य दोनों में विश्वनाथ जी सफल हैं।

प्राकृतिक चित्रण पढ़ते समय हृदय प्रकृति के साथ तादात्म्य सा स्थापित करने के लिए विवश हो उठता है। प्रथम अंक का 'सत्ता कुञ्ज गुज्जम्.. दिशि-दिशि' छन्द पढ़ते समय वसन्तकालीन मलयानिल को मन्द-नाति का आभास और उससे जन्मित उन्माद-स्वास सा प्रकट होने लगता। प्रतीत होता है कि मलय-मारुत

एव रस-रसिक की भाँति जन-मानस को मधु-मदिर भावों से दमक रहा है। उदीयमान् चन्द्रमा, उसकी ज्योत्स्ना एव रात्रि के अन्धकार से वरुण नितान्त मनोरम है। द्वितीय अंक में उदय होत हुए चन्द्रमा को स्वराज्य अपनी महारानी वसन्तसेखा से उसका वर्णन करते हुए उसे कर्पूर के सदृश शुभ्र, आकाश-सागर का राजहंस आदि सजावों से अभिहित करा है—
 'विरहिजनो के लिए कुतान्त के समान, कर्पूरचूर्ण सदृश श्वेत धूँवों का दान करनेवाला वामोन्मादक, कुमुदकुल को जाग्रत करनेवाला, आकाश-सागर में घूँसा के समान चन्द्रमा उदय हो रहा है।' (२११) ऐसे चन्द्रमा की किरणों प्रसार जय होने लगा तो कमलदल रूपी हृदय खिलने और घनतिमिर हटने विवर्लित होने लगा—

सह कुसुमकदम्बं काममुत्सासयन्त
 सह घनतिमिरोधै धैर्यमुत्सादयन्त ।
 सह सरसिज वण्डै स्वान्तमामोत्तयन्त
 प्रतिविशममृतागोरसाव सचरन्ति ॥

चन्द्रमा उदय हो रहा है—उसके प्रभाव से काम भावनाएँ उसी प्रकार विवर्लित, उत्साहित हो रही हैं जैसे पुष्पोप विकास, उसकी किरणों के प्रसार जैसे तिमिर का नाश हो रहा है, उसी प्रकार रसिक मानस से धैर्य विनाश हो रहा है, कमलदलों की भाँति हृदय विवर्लित होने लगे हैं। रात्रि की मुवास्ता : अमावस्या इस प्रकार व्याप्त हो जाता है कि समस्त जगत् की वस्तुएँ उससे प्रभावित हो जाती हैं। रात्रि की घण्टी भी अपने पुष्पक अस्तित्व की भी उसमें विनीत हो जाता है। इसका अर्थ यह कि विश्वास निम्न शब्दों में कर रहे हैं —

भारतीर्णा इव नीलसेलनिधये पूर्णा इवेन्दोवरं—
 राक्षसीर्णा इव क्षुण्णितमृगमदं पूर्णा इवाभ्रमये : ।
 उग्रादेव विगृह्य लोघन पथ भयेन भूषीमुखं—
 राक्षस्युत्पलमता तमात्मनिमरदायेन सर्वा दिशः ॥

भारती के शीर्ष-अधन एवं उत्तर विरहावस्था का यह ही उगरे हुए अंग—
 —सन् २१२

को परसने और उनका ध्वनन करने में भी विश्वनाथ जी की वाध्य-
ता प्रत्यन्त ही पर्यवेक्षणों होकर प्रकट हुई है। और नाथक चित्ररथदेव के
भैरव-मानस की गति को भी उन्होंने बड़ी ही सावधानी से पहिचाना है—

वरप्रकारो कुचकुम्भमूले द्रुतं निषय द्रुतकुरुं रामे ।

सावय्यपूरे विनिमग्धमुर्चनं मे कवाचिद् बहिरेति चेत् ॥

—प्रथम ११५

राजा चन्द्रकला की सावय्य सम्पदा पर इस प्रकार भुग्ध हो गया है कि
ने हृदय को उससे विरत करना उसके लिए नितान्त दुर्भर हो गया। यही
कारण है कि चन्द्रमा की किरणें उसके लिए अग्नि-स्फुलिंग सा बरसा रही हैं—
‘‘मृगयनी से वियुक्त होने के कारण मेरा हृदय अत्यन्त ही सतप्त हो उठा है
और यह चन्द्रमा अपनी किरणों के म्याज से मेरे ऊपर अग्नि के बरणों की बरसा
रने लगा है’’ (प्रक २१२)। इसके अतिरिक्त तृतीय शक का ध्वन्द १८ और
तुर्थांक का प्रथम छन्द भी (इस विषय का) काव्य-सीष्टव की दृष्टि से
ल्लेखनीय है।

चन्द्रकला के सौन्दर्य का जो कथन राजा के द्वारा कवि ने किया है, वह
स्तुत साहित्यिक-पाठक के लिए हृदयावर्जक है—

प्रसावन्तरचन्द्रकचनवनीलाव्यमृगत—

स्तलस्फूर्जस्कम्बुविलसदलिसघात उदरि ।

विना दोषासङ्ग सततपरिपूर्णाखिलकल

कुत प्राप्तश्चन्द्रो विगलितकलङ्क सुमुखि’ते ॥

—११७

नायिका के मुख-सौन्दर्य का वर्णन कवि कितनी सन्मयता के साथ अपनी
सूक्ष्म अन्वेषणी दृष्टि से निरसकर कर रहा है—‘‘हे सुमुखि! यह लोकोत्तर
चन्द्रमा तुम्हें कहाँ से प्राप्त हो गया? इस के मध्य में दो नील कमल (दो नभ)
शोभा पा रहे हैं उसके नीचे लख और उसके ऊपर भीरो का दल भँडरा रहा है
(श्याम वर्ण केशराशि)। और यह चन्द्रमा रात्रि के बिना ही समस्त कलाओं से
पूर्ण, ज्योतिमान है। इसमें भी मनोहारी वर्णन देखिए—

विम्बस्यासुकृतेन दन्तवसनं मत्तेभकुम्भद्वयं—
 स्यापुण्येन पयोधरौ कुवलयस्याकर्मणा चक्षुषी ।
 इन्दोर्भाग्यविपर्ययेण वदनं कुन्दावलेरेनसा—
 दन्ताली कदलीतरोश्च दुरितेनोरुद्वयं निर्मितम् ॥

३।१६

और किस प्रकार सिंह अपनी चीख-कटि को पराजित समझकर क्रोधाभिभूत हो युवती कुच-कलशों के सदृश गजराज के गण्डस्थली को विदीर्ण करता रहता है—

मध्येन मध्यं तनुमध्यमा मे पराजयं नीतवतीति रोपात् ।
 कण्ठीरवोऽस्या कुचकुम्भतुल्यं मत्तेभकुम्भद्वितयं भिनत्ति ।

३।१७

नाटिका नाट्यशास्त्रीय लक्षणों के अनुसार शृंगाररस प्रधान है। इसमें विश्वनाथ जी शृंगाररस को निष्पत्ति कराने एवं उसके संयोग-वियोग दोनों दृष्टों का सफल चित्रण करने में सिद्ध प्रतीत होते हैं। नायक-नायिका के हृदयों में पारस्परिक प्रनुराग-भावों का अंकुरण, प्रस्फुटन-मल्लवन उचित रीति और अप्रत्याशित गति में होता है। दोनों ही आतुर होकर निज स्थिति को विस्मृत करने लगते हैं। सुधा-शीतल चन्द्र की रश्मियाँ दोनों के लिए अग्नि-कण की-बरसा करती प्रतीत होती हैं। राजा अशोक से निवेदन कर रहा है कि मेरे परिताप को शान्त करके अपने नाम को सार्थक करो—

त्वमशोक शोकमपहृत्य मामकं
 गुण तावदाशु निजनाम सार्थकम् ।
 अथलोकित्वात्र भवता यदि सा
 एव नु विद्यते ननु निगद्यतां तदा ॥

—३।८

इसी प्रकार चन्द्रवला का नयन देखिए—‘सखि अलमिदानीमेतैः । पुनः पुनरपि अङ्गेपु हलाहलं धर्यतोऽमुष्माद्-बुष्टरजनीकराद् रक्षयितुमशरणाहं प्रिय-सस्या’—(२ अंश) । काव्य सौष्टव की दृष्टि से द्वितीयाव में व्याघ्र वर्णन का

भी ध्वन कम महत्वपूर्ण नहीं है। वर्णन से व्याघ्र घांगो के समस्त हो सारी क्रियाओं को सम्पादित सा करता प्रतीत होता है—

उदस्यैक पाद विटपिपु मुहु स्वल्पवपणात्
 वृत्तप्योमाभङ्ग शकुनिकुलकोलाहल भरः ।
 परिधामन्नुच्चं प्रवट्टरसभो ध्यास्तवदन
 तरसु पृथोऽप्य क्षिपति भृगुयूथानि परित ॥

—२।६

व्याघ्र क्रुद्ध है। अपने एक पैर को उठाकर वृक्षों से अपना कन्धा बार-बार टाट रहा है, उसके गर्जन, स्वर से आकाश फट-सा रहा है। उसकी गर्जना से भयभीत होकर पक्षियों का समूह कोलाहल करने लगा है। और मुँह फाड़कर अपने भयकर दातों को दिखाकर भय उत्पन्न करके मृग-समूह को भी वह तितर-वितर कर रहा है।

साहित्यिक-सौष्ठव का पुष्ट-प्रमाण यह भी है कि इसके 'नारङ्गुलेनाभिहत्य' (अंक २) 'वसन्त लैखैक' (अंक १) 'सह कुसुमकदम्बै' (अंक २) और मध्येन तनुमध्या मे (अंक ३) साहित्यदर्पण दशम परिच्छेद में क्रमशः स्वभावोक्ति, दृष्टान्त, श्लेष एवं समाधि अलंकारों के उदाहरण में उद्धृत किए गए हैं। अस्तु। 'चन्द्रकला नाटिका' नाट्यशास्त्रीय सचछो एवं साहित्यिक विशिष्ट गुणों से युक्त एक विशिष्ट कृति है। इसके आधार पर हम कह सकते हैं कि आचार्य विश्वनाथ जी ने साहित्य-शास्त्रीय गुण सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही रूपों में विद्वान्तात् ये।

संस्कृत की नाटिकाओं के सन्दर्भ में—

‘चन्द्रकला’ का मूल्याङ्कन

महाकवि भास रचित 'स्वप्नवासवदत्तम्' कालिदास कृत 'मालविकाग्निमित्र' महाकवि श्रीहर्ष विरचित 'रत्नावली' एवं 'प्रियदर्शिका' कृतियों की कथा-वस्तु, वस्तु-विन्यास, घटना-संयोजन आदि का साम्य 'चन्द्रकला नाटिका' पर परिलक्षित होता है। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि विश्वनाथ जी की दृष्टि नाटिका

प्रणयन के समय भास-कालिदास के प्रणय-कथा प्रधान नाटको के कथानक एवं हर्ष की नाटिकाओं की शैली का प्रभाव रहा। हम केवल यह मान सकते हैं कि पूर्ववर्ती कृतिकारों की रचना होने के कारण उनका कुछ आदर्श उनके सम्मुख अवश्य रहा और यह स्वाभाविक भी था। अस्तु, आगे हम विवेचन द्वारा यह स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे कि किस अंश तक कथित कृतियों का प्रभाव विश्वनाथ जी की इस नाटिका पर है।

नाट्यशास्त्रीय लक्षणों के अनुसार नाटिका शृंगार रस प्रधान है जैसे रत्नावली, प्रियदर्शिका। नाटिका का नाम भी नायिका के नाम पर रखा गया है। यह केवल नायिका की प्रधानता के कारण न कि हर्षदेव की नाटिकाओं के अनुकरण पर विश्वनाथ जी ने रखा है। नायिका चन्द्रकला, वासवदत्त की 'वायवदत्ता' और रत्नावली की 'रत्नावली' की भांति गुप्तरीति से अन्तःपुर में रही और वहाँ राजा से अनुराग होता है। इसे हम 'रत्नावली' अथवा 'वासवदत्तम्' का प्रभाव-जनित संयोजन न मानकर नाट्यशास्त्रीय लक्षणानुसारी ही कहें तो असंगत नहीं है—। 'अन्तःपुरादि सम्बन्धावाप्तः नाधुति दर्शनैः'। (दशम्पक)। रत्नावली में नायिका के लिए मित्र पुरुष को घोषणा की कि इसका धाँधलग्रहण करनेवाला पुरुष चक्रवर्ती सम्राट् होगा और 'चन्द्रकला' की नायिका के लिए 'आकाशवाणी' अस्तु भूमिपतिर्भूमौ....प्रदास्यति' ने ऐसी विलक्षण उक्ति की। यह नायिका का महाव कथन एवं सौन्दर्य-मुलक्षण-मुक्त होने का प्रमाण है, अतः नाटिका के लेखक को किसी न किसी प्रकार संयोजन करना चाहिए ही। रत्नावली का अनुकरण कहना आचार्य विश्वनाथ जैसे 'नाट्यवेदोच्चागुरु' के लिए उचित नहीं प्रतीत होता।

नाटिका प्रसादगुणपूर्ण वैद्यों-रोनि में भिगी गयी है। शृंगार-रस के सहायक ज्ञानु-यर्जन, चन्द्रयोत्सवा आदि का भी दर्शन हुआ है। रत्नावली के द्वितीय अंक में—आगरिका (रत्नावली) अपनी सभी सुगन्धता के साथ वार्तालाप में व्यस्त है तभी राजा का पासू बन्दर बन्धन तोड़कर राजमयन की ओर बढ़ता है। उसे देखकर वे दोनों बहों से अफ़सोस होकर भागती हैं। उगने परमान् ही विदूषक और राजा का प्रवेश होता है।' इसी प्रकार की घटना

चन्द्रकला में भी (द्वितीय अंक) 'तरक्षु' के आगमन से उपस्थित होती है। उस समय वहाँ नायिका (चन्द्रकला) नहीं बल्कि महारानी वसन्तलेखा अपनी सखियों के साथ है। उससे भयभीत महारानी अन्तःपुर को चली जाती है, राजा तरक्षु को मारने के लिए प्रस्थान करता है। दोनों घटनाएँ समान ही प्रतीत होती हैं। परन्तु अनुशीलन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि दोनों नाटिकाओं में उपस्थित 'बन्दर' और 'तरक्षु' के कारण-कार्य में बहुत ही अन्तर है। रत्नावली में बन्दर की उपस्थिति सहज घटना लगती है परन्तु 'तरक्षु' का प्रकट होना रहस्यात्मक है। 'तरक्षु' की इस कल्पना से विश्वनाथ जी ने नायक के मुहूर्त् रसालक के बुद्धि-कोशण का स्पष्ट परिचय दिया है और उसे उनके कार्य-सम्पादन के सहायक रूप में उपस्थित किया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विश्वनाथ ने नाटिका की कथा-भस्तु एवं घटना-संयोजन में नाट्यताश्रोय-सौभा का पूर्णतया ध्यान रखा है और मौलिकता के सामंजस्य द्वारा इसे सफ़ल नाट्यकृति का रूप प्रदान कर दिया है। 'तरक्षु' की कल्पना विश्वनाथ जी की मौलिक स्रष्टृ है, इसे हम रत्नावली के 'बन्दर' का अनुकरण नहीं मान सकते।

'चन्द्रकला-नाटिका' साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ को नाट्यकारों की श्रेणी में आबद्ध करने में सर्वथा समर्थ है। नाट्यकार के रूप में सागोपाग मूल्यांकन तो उनकी अन्य नाट्यकृतियों प्रभावती-परिचय-आदि के सम्यक् अनुशीलन के पश्चात् ही समीचीन होगा।

दारागंज, प्रयाग-६

—अनुवादक

गुरु-पूर्णिमा, संवत् २०२३

पात्रपरिचय :



प्रमुखपात्राणि

सूत्रधारः	—	प्रस्तावकप्रधाननटः
नेटी	—	सूत्रधारपत्नी
चित्ररथदेवः	—	नायकः
सुबुद्धिः	—	चित्ररथदेवस्यप्रधानमात्यः
रसालकः	—	विदूषकः
शबरः	—	भ्रमदोषानपासकः
वन्दिनी	—	पाण्ड्यनरेशमन्देशवाहनी
चन्द्रकला	—	नायिका
वसन्तलेखा	—	प्रधानमहिषी
रतिवला माधविका	}	वसन्तलेखाविरवासभाजनदासीयुगलम्
मुनन्दिना		
	—	नायिकायाः सखी

अन्यपात्राणि

पाण्ड्येश्वरः	—	पाण्ड्यनरेशः
विनयाभरणः	—	चित्ररथदेवस्य मेनापनिः
शबरस्वामी	—	शबरपिपः
मेदिनी	—	चित्ररथदेवस्यागपत्नी



श्रीगणेशाय नमः.

चन्द्रकला-नाटिका

प्रथमोऽङ्कः

जीयासु शफरायमाणशशभृत्लेखा स्खलत्कैरव-
घ्रातोद्भ्रान्तमधुप्रतत्रजमिपादुक्षिप्तनीलाशुका ।
विन्दन्त्यो^१ गिरिजाकटाक्षपतनादादित्यजासङ्गम
नृत्यद्वर्गकिरीटकोटिचपला^२ स्वर्गापगावीचय ॥१॥

संस्कृतव्याख्या—नृत्यद्वर्गकिरीटकोटिचपला—ताण्डवनृत्य कुर्वन्
शङ्करस्य भुवुटाग्रे चञ्चला, शफरायमाणशशभृत्लेखा—शकर-मत्स्य इव
आचरन्ती चन्द्रलेखा यासु तादृश्य, स्खलत्कैरवघ्रातोद्भ्रान्तमधुप्रतत्रज-
मिपात्—कुमुदपुष्पसमूहे पतताम् उन्मत्तभ्रमराणां समूहस्य व्याजात्, उक्षिप्त-
नीलाशुका—उपरि घृण नीलवस्त्रमिव यासि तादृश्य, गिरिजाकटाक्षपत-
नात्—पार्वतीकटाक्षपातात्, आदित्यजासङ्गम—यमुनया सङ्गम, विन्द-
न्त्य—प्राप्नुवन्त्य, स्वर्गापगावीचय—मन्दाकिनीतरङ्गा जीयासु—
विजयन्ताम्, ॥१॥

हिन्दी अनुवाद—(ताण्डव) नृत्य करते समय शकर के मुकुट के अग्रभाग-
पर गंगा जी की वे लहरें विजयशालिनी हो (विजय प्रदान करें) जिनके बीच
पड़ी (शिव के भाल की) चन्द्रलेखा शकरी (पोठी मछली) की भाँति प्रतीत
होती है जो (लहरें) दोलायमान कमलिनी दल पर उठते हुए भ्रमर समूह रानी
नीलाशुक से आच्छादित रहती हैं तथा जिन पर पार्वती का कटाक्ष पड़ने के
कारण गंगा-यमुना के संगम की सृष्टि होती है । (पार्वती—कटाक्ष में यमुना

[नान्दन्ते]

सूत्रधारः—अनमतिविस्तरेण । (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये,
इतस्तावत् ।

(प्रविश्य)

नटी—एवाम्मि । आक्षाययत्वार्यः । एसाम्हि । आणवेदु अज्जो ।

टिप्पणी—नृत्यद्वर्गकिरीटकोटिचपलाः—नृत्यन् भर्गः (नर्तधारय),
तस्य विरीटम्, तस्य कोटिः, तस्या चपलाः । शफरायमाणशशभृत्लेखाः—
शफर इव आचरन्ती इति शफरायमाणा शफर+क्यङ्=शफराय (नामघातु)
+सद्+शानच्, मुच् आगम । शश विभक्ति इति शशन्त्, शश भृ+
क्विप्, तुक् आगम, शशभृतः लेखा शशभृत्लेखा, शफरायमाणा शशभृत्लेखा
यासु तादृश्यः । स्तलत्कैरवव्रातोद्भ्रान्तमधुव्रतव्रजमिपात्—नैरवव्रा-
तात्, उद्भ्रान्ताः मधुव्रता, कैरवव्राते उद्भ्रान्तमधुव्रता. स्तलन्त' कैरवव्रा-
तोद्भ्रान्तमधुव्रता, तेषा व्रजः, तस्य मिपः, सस्मात् । आदित्यजासङ्गमम्—
आदित्यात् जायते या सा आदित्या आदित्य जन् + ष + टाप्, तया संगमः, तम् ।

संस्कृतव्याख्या—नान्दा.—पूर्वोक्ताया. स्तुते, अन्ते—समाप्ती । सूत्रधारः—
नटाध्यक्षः आगत्य वदतीति शेषः । अतिविस्तरेण—सुबहुलेन (नान्दी-प्रयोगेण)
अलं—व्यर्थम् । नेपथ्याभिमुखम्—नेपथ्यं नाम रङ्गस्थलस्य पश्चात्
यवनिकान्तरितो वर्णग्रहणादियोग्यकुशीलवकुटुम्बस्यावस्थानदेश. तस्य
अभिमुखं सम्मुखम्, अवलोक्य—दृष्ट्वा । आर्ये—माननीये, इतस्तावत्—इतः

के नीले जल और शवर की जटाओं में ब्रीडा करती लहरो में गया के घबल
जल की कल्पना की गयी है ।) ॥१॥

[नान्दी के पश्चात्]

हिन्दी० सूत्रधार—बहुत अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है ।
(नेपथ्य की ओर देखकर) प्रिये, इधर आओ ।

(प्रवेश कर)

नटी—ग्रह हूँ मैं । आर्य आदेश करें ।

अस्मिन् स्थाने रङ्गमञ्चे इति यावत्, तत्रातृशब्दोऽत्रावधारणार्थः ।
प्रविश्य—रङ्गमणौ प्रवेश कृत्वा, एपास्मि—अत्राह वने । आर्यं—पूज्य,
आज्ञापयतु—आदिशतु ।

विष्णो—नान्द्यन्ते—नन्दयतीति नन्द नन्द् + णिच् + अच् कर्तरि पचा-
दित्वात् । नन्द एव नान्द नन्द + अण् स्वार्थे प्रज्ञादित्वात् नान्द + ङीप् =
नान्दी । नान्द्या अन्त नान्द्यन्त (प० त०), तस्मिन् । यम्य च भावेन
भावलक्षणम् इति सूत्रेण भावे सप्तमी । नाटक आरम्भ करने के पहले उसकी
निर्विघ्न समाप्ति के लिए देवता आदि की जो स्तुति की जाती है, उसे नान्दी
कहते हैं । भरत मुनि ने कहा है कि नाटक में विघ्न-शान्त्यर्थं नान्दी-याठ
अवश्य करना चाहिए—‘यद्यप्यङ्गानि भूयासि पूर्वैरङ्गस्य नाटके । तयाप्यवश्य
कर्तव्या नान्दी विघ्नप्रशान्तये ॥’ नान्दी का लक्षण यह है—‘आशीर्वचनसमुक्ता
स्तुतिर्वस्मात् प्रयुज्यते । देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति सञ्ज्ञिता ॥’
(साहित्यदर्पण) अर्थात् देवता, ब्राह्मण और राजा आदि की आशीर्वादयुक्त
स्तुति इसके द्वारा की जाती है, अतः इसे नान्दी कहते हैं । ‘आशीर्नम-
स्क्रियात्प श्लोक काव्यार्थमूचक । नान्दीति कम्पते । (आदिभरत) अर्थात्
आशीर्वाद और नमस्कार से युक्त श्लोक नान्दी कहलाता है । उसमें काव्य के
कथानक का सकेत भी होना चाहिए । ‘देवद्विजनृपादीनामाशीर्वचनपूर्विका ।
नन्दन्ति देवता यस्या तस्मान्नान्दीति कीर्तिता ॥ नन्दन्ति काव्यानि
कवीर्ब्रह्मणा कुशीलवा पारिपदाश्च सन्त । यस्मादक्ष सज्जनसिन्धुहसी
तस्मादिष्य सा कथितेह नादी ॥’ (नाट्यप्रदीप) नान्दी के विस्तार आदि
के विषय में यह कहा गया है—अष्टामिदंशभिर्वापि नादी द्वादशभिः पदैः ।
आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ॥, अर्थात् नान्दी में आठ, दस या
बारह पद होने चाहिए । इसमें आशीर्वाद नमस्कार या कथावस्तु का निर्देश
होना चाहिए । नान्दी के श्लोक एक से चार तक होते हैं । सूत्रधार—रग-
शाला का व्यवस्थापक । सूत्र धारयति इति सूत्र धृ + णिच् + अण् कर्तरि
‘कर्मण्यण्’ इत्यनेन, उपपद म० । सूत्रधार का लक्षण—वर्णनीयतया सूत्र प्रथम

येन सूच्यते । रङ्गमूर्ति स्यात्कर्म सूत्रधारः स उच्यते ॥, (संगीत-सर्वस्व), अथवा 'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते । सूत्र धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते ॥, अथवा 'नाट्यस्य यदनृष्ठान तत सूत्र स्यात्, सबीजकम् । रङ्गदेवतापूजाकृत्, सूत्रधार इति स्मृत' ॥ अलमतिविस्तरेण—वि स्तृ + अप्, भावे=विस्तर, अत्यन्त विस्तर अतिविस्तर (प्रादि स०), तेन । अत्र 'गन्धमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका' इति वचनात्, साधन-क्रिया प्रति अतिविस्तर करणम्, तेन करणे तृतीया । विस्तर शब्द म प्रथमे वाक्यशब्दे सूत्र से घञ्, प्रथम होता है । अतएव 'वाक्यस्य विस्तर और 'पटस्य विस्तर' इस प्रकार प्रयोग करना चाहिए । नेपथ्याभिमुखम्—नेपथ्य शब्द पर्दा और पर्दे के पीछे रूप वारण-स्वस दोनो को कहते हैं—'नेपथ्य स्याज्जवनिका रङ्गमूर्ति प्रसाधनम्' इत्यजय । 'आकल्पवेपौ नेपथ्य प्रतिकर्म प्रसाधनम्' इत्यमर । नेपथ्य का लक्षण यह है—'कुशीलवकुटुम्बस्य गृह नेपथ्यमुच्यते अर्थात् जहाँ अभिनेता अपने को सजाते और अभिनयोचित वेप धारण करते हैं, उसे नेपथ्य कहते हैं । नी + विच्, = ने = नेता । तस्य पथ्यम्, नेपथ्यम्, (प० त०) । तस्य अभिमुखम्, (प० त०) । अवलोक्य—+अव लोक् + क्त्वा—त्वप् । आर्ये—यह आर्या का सम्बोधन है । नाट्यशास्त्र के नियमानुसार सूत्रधार अपनी पत्नी को 'आर्या' कहकर सम्बोधित करता है — 'पत्नी नार्येति सम्भाष्या । और सूत्रधार की पत्नी या नटी उसे 'आर्य' या 'आर्यपुत्र' कहकर सम्बोधित करती है । आर्य—आराद्, यात इति आर्य अर्थात् आराद दूरतमीययो' इत्यनेन आराद्, —यस्य तादुराचारादिदोषेभ्यो दूर गतश्च शिवासम्भवाविद्या विभिन्न देवास्पदत्व प्राप्त इति आर्य पृषोदरादित्वात्, साधुत्वम्, अथवा अर्जु योय्य आर्य ऋ (गतो) + ण्यत्, । वसिष्ठ के म से धार्य कालक्षण यह है — 'कर्तव्यमाचरन्, शशमनतथ्यमनाचरन्, तिष्ठति प्रवृत्ताचारे स वा अण्य इति स्मृत' ॥ कुल शीघ्र इति शान धर्म सत्य वृत्तवता । अद्रोह इति वेद्यतन्, तानात्मान् सम्प्रचक्षते इति भरत ।

सूत्र०—आयें, पश्य पश्य । अयमिदानीं यवनपुरपुरन्धीवर्गनिर्गलद-
विरलजलधारानिधौतगिरिकन्दरो निजमुज^१ प्रतापतपनसमुत्तादि-
तारातितिमिरनिवरश्चोलकोशलवङ्ग^२ हावङ्ग^३ कोच^४ काञ्ची-
गोडहाहाल^५ मत्स्य^६ म्लेच्छलाट^७ कर्णाटप्रमुत्तराजगजीव^८-
रजनीकर^९ मय नगुणरत्नरत्नावगो निधिलानवद्यविद्या-
निधिरयिंकुलकल्पद्रुम सभामध्यमध्याम्ने^{१०} गजपतिमहाराधिराज
निकलिङ्गभूमण्डलाखण्डल श्रीमन्निशङ्कभानुदेव^{१०} । ॐ

संस्कृत०—आयें—माननीये । पश्य पश्य—अवलोक्य अवलोक्य । अय-
पुरो दृश्यमान, यवनपुरपुरन्धीवर्गनिर्गलदविरलनयनजलधारानिधौत-
गिरिकन्दर—यवनपुरस्य मुहम्मदीयनगरस्य पुरन्धीवर्षाणा महिलावृन्दाना
निर्गलन्तीभिः प्रसवन्तीभिः अविरलानि सान्द्राभिः नयनजलधाराभिः
नेत्राम्बुप्रवाहैः निधौता प्रक्षालिता गिरिकन्दरा पर्वतगुहा येन तादृश,

हिन्दी० सूत्रधार—प्रिये, देखो, देखो, इस समय सभा के मध्य शिवालिंग
भू-मण्डल के इन्द्र महाराजाधिराज श्रीमन्निशङ्क भानुदेव विराज-
मान हैं । जिन्होंने यवन स्त्रियों के नेत्रों से बहती हुई सतत जलधारा से
पर्वत की कन्दरायाँ को धो डाला है, अपनी भूजाओं के बलप्रताप
से समस्त शत्रुओं का समूल नाश कर दिया है, जैसे सूर्य किरणों के
प्रकाश से घोर अन्धकार को नष्ट कर देता है, जो चीन, कोशल, वग, हावग,
कोच, काञ्ची, दाहल मत्स्य, म्लेच्छ लाट तथा कर्णाटक आदि के भूतेशों को
मोददायक हैं जैसे चन्द्रमा कुमुदिनी-दल को प्रमुदित किया करता है और
जो समस्त गुणों से सम्पन्न गुणसागर, विद्या एवं कलाओं के निधान तथा
याचकों के लिए कल्पवृक्ष के समान हैं—

१ निजमुज मू० पा० । २ लवङ्ग पाठभेद । ३ टावङ्ग पाठभेद ।
४ समवत कोचविहार । ५ काल पाठभेद । ६ मच्छ पाठभेद ।
७ नट पाठभेद । ८ राजीवराज पाठान्तरम् । ९ सभामध्यास्ते पाठ-
ान्तरम् । १० श्रीमान् निशङ्कभानुदेव पाठान्तरम् ।

आच्छन्ने धर्मधाम्नि^१ प्रखरहयखुरक्षुण्ण^२ पृथ्वीरजोभिः
क्षिप्ते नक्षत्रलक्षे नभसि करिकरो^३ दूतगङ्गापयोभिः ।

निजभुजप्रतापतपनसमुत्सादितारातिमिरनिकर — निजभुजप्रतापतपनेन
स्वकीयबाहुपराश्रमरूपसूर्येण समुत्सादित विनाशित अरातिमिरनिकर
शत्रुरूपान्धकारसमूह येन तादृश, चोल-कोशल-वङ्ग-हावङ्ग-कोच-काञ्ची-
गौड-डाहाल-मत्स्य-म्लेच्छ-लाट-कर्णाट-प्रमुखराजराजीवरजनीकर — चोल-
कोशलादिदेवानां राजान नृपा एव राजीवानि नीलकमलानि तेषां विकासाय
रजनीकर चन्द्र इव, सकल-गुणरत्नरत्नाकर — सकलानां समस्तानां
गुणरत्नानां श्रेष्ठगुणानां रत्नाकर समुद्र इव, निरिवलान्वद्यविद्यानिधि —
निरिवलानां समप्राणान्, अनवधानान्, उत्तमानां विद्यानां शास्त्राणां निधि
शेवधि इव, अर्थिकुलकल्पद्रुम — अर्थिकुलानां याचकसमूहानां कल्पद्रुमः
कल्पवृक्ष इव, महाराजाधिराज — सम्राट्, त्रिकलिङ्गभूमण्डनाखण्डल —
त्रिकलिङ्गराज्यस्य इन्द्र इव, गजपति, श्रीमन्निश्शङ्कभानुदेव, इदानीम् —
अधुना, समामध्यम् — परिपदो मध्ये, अध्यास्ते — विराजमानोऽस्ति ।

संस्कृत० — यस्य — नि शङ्कभानुदेवस्य, जैत्रयात्रावकाशे — विजयाय प्रयागे,
प्रखरहयखुरक्षुण्णपृथ्वीरजोभिः — प्रखरा तीक्ष्णा ये हयखुरा अश्वशफा
तैः क्षुण्णैः मदितैः पृथ्वीरजोभिः धराधूलिभिः, धर्मधाम्नि — धर्म एव धाम
यस्य तादृशे सूर्ये, आच्छन्ने — आवृत्ते सति, करिकरो दूतगङ्गापयोभिः —
करिणां गजानां वरा शुण्डा तैः उद्धूतैः उत्क्षिप्तैः गङ्गापयोभिः गङ्गाजलैः,
नभसि — आकाशे, नक्षत्रलक्षे — नक्षत्राणां ताराणां लक्ष्याणि यत्र तादृशे,
क्षिप्ते — जाते, कीर्तिचन्द्रे — कीर्तिं यत्र चन्द्र इव इन्दुरिव इति तस्मिन्,

हिन्दी० — उसकी विजयायात्रा के समय तीव्रगामी घोड़ों के खुराघातों
से उड़ी घृतराशि से सूर्य बिम्ब टक गया, मतवाले हाथियों ने अपनी सूडों से
गंगा के जल को भर-भर कर जो ऊपर की ओर फेंका उन जल-कर्णों से

ज्योत्स्नाभिः कीर्तिचन्द्रे धवलसयति जगत्त्रययात्रावकाशे

गौडक्षमापाललक्ष्मी^१ व्यरचयदचिरादेव यम्याभिसारम् ॥२॥

यदस्माकमिदानीं^२ चतुर्दशभाषा^३ महाकविनिर्मिलानवद्य-

विद्यामहोदधिराजहसमहापात्रश्रीचन्द्रशेखरतनूजन्मन श्रीमन्नारा-

यणचरणारविन्दमधुकरीभूतचेतस निजजनरसमधिगतनिधिल-

ज्योत्स्नाभि—चन्द्रिणाभि, जगत्—समार, धवलसयति—उज्ज्वलसयति सति,
गौडक्षमापाललक्ष्मी—गौडदेशस्य राज्ञो राज्यश्री, अचिरादेव—शीघ्रम्
अभिसारम्—अभिमरणम् प्रियेण समागन्त सङ्केतस्य लग्नमिति यावत्,
व्यरचयत्—निर्वर्तयामास । अत्रापि नार्दूलविक्रीडित छन्द । अत्र उद्देशा-
लङ्कार ॥२॥

संस्कृत०—यत्—यस्मात्, इदानीम्—अधुना, चतुर्दशभाषामहाकविनिर्मिला-
नवद्यविद्यामहोदधिराजहसमहापात्रश्रीचन्द्रशेखरतनूजन्मन — चतुर्दशभाषाणां
शौरसेन्यादीनां महाकवे महाकवयितु निखिला समस्ता अनवद्या उत्तमा
विद्या शास्त्राणि एव महोदधयः समुद्रा तेषां राजस्य इव महापात्रस्य
प्रधाना मातृस्य उत्कृष्टसम्प्रदायब्राह्मणस्य वा श्रीचन्द्रशेखरस्य पुत्रस्य,
श्रीमन्नारायणचरणारविन्दमधुकरीभूतचेतस—श्रीमतो नारायणस्य चरणमेव
अरविन्द पद्म तस्मिन् मधुकरीभूत (सतततत्सेवनात्) चेतः वित्त यस्य
तादृशस्य, निजजनरसमधिगतनिधिलसाहित्यतत्त्वस्य—निजजनकात् स्वपितु

आकाश में तारा की छटा छा गयी, और फिर इनके बीच उसके कीर्ति-चन्द्र
की निर्मल ज्योति उनके इस जगत् विजयी अभियान में चारों ओर प्रकाशित
होने लगी । तब उस धवल चादनी में गौड-नरेश की लक्ष्मी ने विकलित-नरेश
पर मुग्ध होकर शीघ्र ही उससे अभिसार किया ॥२॥

हिन्दी०—अतः आज चौदह भाषाओं के महाकवि, सम्पूर्ण उत्तम विद्या-

१ लक्ष्मि मू० पा० । २ तस्मादस्माकमिदानीं पाठान्तरम् ।

३ भाषाविलासिनीभूजङ्ग पाठान्तरम् ।

साहित्यतत्त्वस्य नाट्यवेददीक्षागुरो गौरवैक^१ बान्धवस्य गजपति-
महाराज्यसान्धिविग्रहिक^२ श्रीविश्वनाथकविराजस्य कृतिमभिनवा
चन्द्रकलानाम नाटिकामभिनेतुमुचितोऽय समय ।

नटी—आज्ञापयत्वार्थं । कतम समयमुद्दिश्य गास्यामि । (आणवेदु
अज्जो कदम समय उद्दिस्सिअ गाइस्सम् ।)

सहाशाद् समधिगत प्राप्त निखिलसाहित्यस्य सम्पूर्णकाव्यस्य तत्त्व सारो येन
तादृशस्य, नाट्यवेददीक्षागुरो —नाट्यशास्त्रस्योपदेष्टु, गौरवैकबान्धवस्य—
गौरव प्रतिष्ठा एव एक बान्धवो बन्धुर्यस्य तादृशस्य, गजपतिमहाराज्यसान्धि-
विग्रहिकश्रीविश्वनाथकविराजस्य—गजपतेविशासराज्यस्य सन्धिविग्रहयोर-
धिकारे नियुक्तस्य श्रीविश्वनाथकविराजस्य—विश्वनाथनाम्न कविश्रेष्ठस्य
(कवीना राजा श्रेष्ठ कविराज इति गुणप्रयुक्तो व्यक्तिगत उपाधि कलाप-
चन्द्रप्रणेतु सुपेणशर्मण कविराजोपाधिवत्, न तु वैद्यजातिमान्नायत्त
कविराजैत्युपाधि) अभिनवा—नूतना, कृति—रचना, चन्द्रकला नाम नाटिकाम्,
अभिनेतु—लेलितुम्, अयम्, उचित समय—उपयुक्त काल अस्तीति शेष ।

सस्कृत०—कतम, समय—ऋतुमिति यावत्, उद्दिश्य—उपलक्ष्य, अह गास्या-
मि इति आर्यं—पूजनीयो भवान्, आज्ञापयतु ।

समुद्र के राजहंस महापात्र श्री चन्द्रशेखर के पुत्र कविराज श्री विश्वनाथ की
नवीन रचना 'चन्द्रकला' नामक नाटिका खेसने के लिए यह उचित समय है ।
यह कविराज विश्वनाथ श्रीमन्नारायण के चरणों में हमेशा लीन रहने वाले,
(जैसे भौरा बमल में लीन रहता है) अपने पिता से जिन्होंने साहित्य के
सभी तर्का का ज्ञान प्राप्त किया और जो नाट्यवेद के दीक्षागुरु, परमयशस्वी
तथा गजपति-साम्राज्य के सान्धिविग्रहिक (सन्धि और युद्ध का निश्चय
करने वाले मंत्री) थे ।

हिन्दी०—नटी—आर्य ! आज्ञा दें, कि गीत में किस ऋतु (ऋतु) का
संकेत हो ।

१ गौरवैक मू० पा० तात्पर्यहीन । २ सान्धिविग्रहिकमहापात्र पाठभेद ।

सूत्र०—आर्ये ! अमुमेवाचिरोपस्थितकेतकीपरिमलमिलितमधुकर-
वधूनिकर^१ शङ्खारमुखरितदिशाभोग मलयाचलदरीगलितनिर्झर-
सलिलशीकरशिशिरधीरमास्तचूतकानन दरदलित^२ चूताङ्कुरास्वाद-
सुन्दरमदकलकलकण्ठकुलकलितकाकलिविरचितविरहिकणज्वर वसन्त-
समयम् । इह हि—

अमुमेव, अचिरोपस्थितकेतकीपरिमलमिलितमधुकरवधूनिकरशङ्खारमुख-
रितदिशाभोगम्—अचिरेण अविलम्बेन उपस्थिताया विकसिताया केतक्या
परिमलेन मकरन्देन मिलिताना संगताना मधुकरवधूना भ्रमरीणा यो निकर
समूह तेन मुखरित गुञ्जित दिशानाम् आभोग विस्तार यस्मिन्, तादृश,
मलयाचलदरीगलितनिर्झरसलिलशीकरशिशिरधीरमास्तचूतकानन—मलयाचल-
स्य मलयपर्वतस्य दरीभ्यः पर्वराभ्यः गलिताना नि मृताना निर्झराणां वारि-
प्रवाहाणां सलिलशीकरैः अम्युकणैः शिशिर शीतल धीर मन्दश्च मास्त
वायु चूतकानने आभ्रवने यस्मिन्, तादृश, दरदलितचूताङ्कुरास्वादसुन्दरमद-
कलकलकण्ठकुलकलितकाकलिविरचितविरहिकणज्वरं—दरम् ईपत् यथा स्यात्
तथा दलितस्य विकसितस्य चूताङ्कुरस्य आभ्रमञ्जया आस्त्रादेन सुन्दरा
मदकला मदमत्ताश्च ये कलकण्ठा कोकिला तेषां कुलानि समूहा तेषां
कलितकाकलिभिः अव्यक्तमधुरध्वनिभिः विरचित उत्पादित विरहिणा कर्णे
ज्वरो येन तादृश, वसन्तसमयम्, अभिलक्ष्य गीयताम इति शेषः ।

सूत्रधार—आर्ये ! इसी वसन्तकाल का वर्णन करो—भौरें केतकी पुष्प के
परिमल से आकृष्ट हो कर मधुर गुजार करने लगे हैं, उनकी ध्वनि से दिशाएँ
मुखरित हो रही हैं, मलयाचल के गुफा-निर्झर के कणों में वायु शीतल हो गयी
है, और उसकी मन्द गति के कारण आभ्र-वन हिल रहे हैं । अधलिली आम
की मजरी के रसास्वाद से कोकिल मत्त हो गए हैं । वे अपने मधुर-कण से कूक
कर विरहिणियों को विकल करने लगे हैं । यहाँ तो—

१ मधुकररीर वधूनिकर मू० पा० । २ दरदलित मू० पा० ।

लताकुञ्ज गुञ्जन्मदवदलिपुञ्ज चपलयन्
 समालिङ्गन्नङ्ग^१ द्रुततरमनङ्ग^२ प्रवलयन्^३ ।
 मरुन्मन्द मन्द दलितमरविन्द तरलयन्
 रजोवृन्द विन्दन् किरति मकरन्द दिशि दिशि ॥३॥^३

पटो—[गायति]

अमुञ्चन्नपि निजा ता कुन्दलता सुचिरोपभुक्ताम्^४ ।
 धुन्यति रसालवल्लीम् अभिनवमधुगन्धा झमर ॥४॥

संस्कृत०—गुञ्जन्मदवदलिपुञ्ज—गुञ्जन्, रुक्मन्, मदवान्, मदमत्तर
 अलिपुञ्जो भ्रमरसमूहो यत्र तादृशं, लताकुञ्ज, चपलयन्—चपलीकुर्यन्
 सञ्चालयन्, अङ्ग—विहासप्रायशाना गात्र, समालिङ्गन्—संस्पर्शयन्
 अनङ्ग—काम, द्रुततरम्—अतिशीघ्र, प्रवलयन्—प्रवलीकुर्यन्, वर्धयन्
 —दलितम्—प्रस्तुष्टितम्, अरविन्द—कमल, मन्द मन्द—शनै शनै, तर
 लयन्—तरलीकुर्यन्, सञ्चालयन्, तथा रजोवृन्द—पुष्पाणा परागसमूह
 विन्दन्—गृह्णन्, मरुत्—वायु, दिशि दिशि, मकरन्द—पुष्पमधु
 किरति—विक्षिपति । अत्र माधुर्यगुण, शिखरिणीवद् ॥३॥

(अमुअन्तोवि णिअ त^१ कुन्दरदं सुइरउवहुत्त ।

चुम्बइ रमालवन्नी अहिणवमहुगन्ध भमगे ॥४॥)

मूत्र०—[सशिर कम्पम्] आर्षे, साधु गीतम् । एव नलु शिथि-
नेनपोर^२ कुन्दलतानुरागानिशयमभिनवप्रफुल्लमहकारवल्नीनिबद्ध-
मेमाण मधुरर वर्णयन्ती सत्यमाह^३ भवती । तथा हि—

चिरादधिगन वस्तु^४ रम्यमप्यवधारयन्^५ ।

पुर प्रतिनव वीक्ष्य मनस्तदनुधावति ॥५॥

संस्कृत०—शिथिलितपोरकुन्दलतानुरागातिशयम्—शिथिलित मन्दीकृत
गोकुन्दलताया नगरस्यकुन्दवल्लीया अनुरागानिशय दृष्ट प्रेम यन तादृशम्,
अभिनवप्रफुल्लसहकारकन्त्रीनिबद्धप्रेमाणम्—सद्य पुष्पितायाम् आम्रलताया
निबद्ध म्यिरीकृत प्रेम यन तादृश, मधुरर-भ्रमर, वर्णयन्ती भवती—त्या,
सत्यमाह—यथार्थं वदति ।

संस्कृत०—मन—चित्त, चिरात्—दीर्घकालात्, अधिगन—प्राप्त, वस्तु,
रम्यमपि—कुन्दरमपि, अवधारयत्—ज्ञात्, पुर—अग्रे, प्रतिनव—नूतन
(वस्तु), वीक्ष्य—दृष्ट्वा, तन् अनुधावति—तस्य पश्चाद्वावति ॥५॥

हिन्दी०—नदी—(गाती है) भ्रमर भवमधुरर-युक्त आम की लता का
चुम्बन करन लगा परन्तु वह भली भाँति उपयोग की गयी कुन्दलता का भी
परित्याग नहीं कर पा रहा है ॥४॥

हिन्दी० मूत्रधार—[सिर हिलाकर] प्रिये, तुमने उचित ही गाया । महल
की कुन्दलता के अनुराग में बद्ध भ्रमर का वर्णन बिलकुल सत्य है । वह इस
समय नव पुष्पित गुमना से आच्छिन्न आम्रलता में अनुरक्त हो गया है ।
कहा गया है—

हिन्दी०—हृदय का स्वभाव ही है कि वह पूर्वप्राप्त वस्तु को कुन्दरता का
अनुभव करन पर भी नवीन वस्तु से आकर्षित होकर उधर ही दौड़ता है ॥५॥

[नेपथ्ये]

साधु ! शैलूप, साधु ! 'चिरादधिगतमित्यादि'—

सूत्र०—[आकर्ष्य] आर्ये, अयमसावितः प्राप्त एव क्षोणीभुज-
चित्ररथदेस्य सुबुद्धिनामा प्रियामात्य । तदावामपि समनन्तर-
करणाय सज्जीभवाव ।

[इति निष्क्रान्तौ]

प्रस्तावना

[ततः प्रविशति सुबुद्धिः 'साधु शैलूपे' त्यादि नेपथ्योक्तं पठित्वा]

संस्कृत०—शैलूप-नट । साधु-समीचीनम् । क्षोणीभुज-क्षोणी पृथ्वी
भुनक्ति इति क्षोणीभुज्, भुजे. कर्तरि क्विप्, तस्य=राज्ञ । प्रियामात्य-
प्रियमन्त्री । समनन्तरकरणाय-सद्यः पश्चात्कर्तव्यसम्पादनाय, सज्जीभवाव-
उद्यतो स्याव । निष्क्रान्तौ-निर्गतौ नटीसूत्रधारविति शेषः ।

संस्कृत०—प्रस्तावना—आमुखं (समाप्तम्) । प्रस्तावनालक्षणं यथा
साहित्यदर्पणे—'नटी विदूषणौ वापि पारिदारवम् एव या । सूत्रधारेण सहिताः
सत्तापं यत्र भुञ्जते ॥ चित्रैर्यावयैः स्वकार्योत्पदे. प्रस्तुताशेषिभिर्मियः ।
आमुखं तसु विज्ञेय नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा ॥ (६-३१-३२)' इति । तत्र
च पञ्चविधासु प्रस्तावनासु प्रयोगातिशयाख्या प्रस्तावनेयम् । तत्तत्क्षण
यथा—'यदि प्रयोग एवस्मिन् प्रयोगोऽप्य. प्रयुज्यते । तेन पात्रप्रवेशश्चेत् प्रयोगा-
तिशयस्तदा' ॥ इति ।

हिन्दी०—(नेपथ्यमें) ठीक, सूत्रधार ! ठीक करने हो । पूर्णप्राप्त वस्तु
को सुन्दर मानकर भी..... इत्यादि ।

सूत्रधार—(गुनकर) प्रिये ! महाराज चित्ररथ देव के प्रिय मन्त्री
सुबुद्धि आ गये । अब हमें भी निश्चित कार्य की तैयारी करनी चाहिए ।

(दोनों का प्रस्थान)

प्रस्तावना समाप्त

[इससे बाद 'ठीक सूत्रधार ! ठीक' इत्यादि करने हुए सुबुद्धि का प्रवेश]

सुबुद्धिः—अनेन खलु चन्द्रकलाया भर्तुरनुरागबन्धः स्यान्नवेति चिन्तयतो मम दत्तमेव प्रतिवचनं भवता^१ । तथा ह्येषा कर्णाटविजयार्थं प्रस्थितेन विक्रमाभरणाख्येन सेनापतिना मध्येमार्गं कुतोऽप्यधिगत्य निरुपमसौन्दर्यलक्ष्मीरिव विग्रहवतीति राजवशजेयमिति^२ कथयित्वा मत्परितोषकाङ्क्षणा मदन्तिकं प्रहिता । मया चात्यन्तमुलक्षणेति निरूप्यमाणा तत्काले च—

अनेन—वाक्येन, चन्द्रकलाया, भर्तुं—स्वामिनं अनुरागबन्ध—प्रेमबन्धन, यस्यानवेति, चिन्तयत—विचारयत, मम—मे, भवता, प्रतिवचनम्—उत्तर, दत्तमेव । कर्णाटविजयार्थं—कर्णाटदेश विजेतुं, प्रस्थितेन—चलितेन, विक्रमाभरणाख्येन अधिगत्य—प्राप्य, इयं—चन्द्रलेखा, निरुपमसौन्दर्यलक्ष्मीरिव—निरुपमा अद्वितीया सौन्दर्यलक्ष्मी सावर्ण्यशी इव, विग्रहवती—शरीरधारिणी, इति, राजवशजा—राजकुलोत्पन्ना, इति, कथयित्वा, मत्परितोषकाङ्क्षणा—मत्सन्तोषाभिप्रायिणा (सेनापतिना), मदन्तिकं—मम समीप, प्रहिता—प्रेषिता । मया च, अत्यन्तमुलक्षणा—सामुद्रिकतर्जशुभनक्षत्रसम्पन्ना, इति, निरूप्यमाणा—दीक्ष्यमाणा (इयम्), तत्काले च—तस्मिन्नेव अवलोकनसमये,

सुबुद्धि—चन्द्रकला के प्रति महाराज का अनुराग है जयवा नहीं, ऐसा सोचते हुए, मुझे जैसे-यह कर आपने उत्तर ही दे दिया । क्यो कि ऐसा है कि, कर्णाटक-विजय के लिए प्रस्थित विक्रमाभरण नामक सेनापति ने कही मार्ग में इस युवती को प्राप्त किया । लक्ष्मी के समान सौन्दर्यराशि को बिखेरती हुई इसे किसी राजवश की कन्या समझा तथा मेरे सन्ताप के लिए उसने मेरे पास प्रेषित कर दिया । और मैं भी सुन्दर लक्षणों से युक्त युवती का निरीक्षण कर रहा था कि दिव्य वाणी सुनायी पड़ी—

यस्तु भूमिपतिभूमौ^१ पाणिमस्या ग्रहीष्यति^२ ।

लक्ष्मी^३ स्वयमुपागत्य वरमस्मै प्रदास्यति ॥६॥

इत्यमानुषी गिरमाकर्ण्य तत्परिणयेन भर्तुरुपचय महान्त चिन्त-
यता पाण्ड्यराजदुहितुर्मेहादेव्या भयेन स्वय महाराजेनैना^४ परिणय-
यितुमशक्नुवता^५ न्त पुरचारिणीमिमामवलोक्य^६ स्वयमेव परिग्रही-
ष्यति^७ स्वामीति विचिन्त्य मम वशजेय सखीपदे स्थापयित्वा परि-

संस्कृत०—भूमौ—पृथिव्या, य, भूमिपति—राजा, अस्या—चन्द्र-
कलाया, पाणिं—वर ग्रहीष्यति—धारयिष्यति परिणेष्यतीत्यर्थ, लक्ष्मी,
स्वय—साक्षात्, उपागत्य—समीपमागत्य, अस्मै—भूमिपतये, वरम—
अभीष्ट, प्रदास्यति । अथ अनुष्टुप् छन्द ॥६॥

इति—इत्थम्, अमानुषी गिर—ईवी वाचम्, आकर्ण्य—भुत्वा, तत्परिणयेन—
चन्द्रकलाविवाहेन, भर्तु—स्वामिन, महान्तम् उपचयम्—उन्नति, चिन्त-
यता—विचारयता, पाण्ड्यराजदुहितु—पाण्ड्येश्वरस्य पुत्र्या, महादेव्या—
महाराज्ञ्या, भयेन—भीत्या, स्वय, महाराजेन—निश्चङ्कमानुदेवेन, (सह) एता-
चन्द्रकला, परिणययितु—विवाहयितुम्, अशक्नुवता—असमर्थेन (मया)
अन्त पुरचारिणीम्—अवरोधनिवासिनीम्, इमा—चन्द्रकलाय, अवलोक्य—
दृष्ट्वा, स्वामी, स्वयमेव, परिग्रहीष्यति—परिणेष्यति, इति, विचिन्त्य—आलोच्य
इयं—कन्यका, मम, वशजा—वशोत्पन्ना, सखीपदे—सख्या स्थाने, स्थापयित्वा—

हिन्दी०—पृथ्वी पर जो कोई भी राजा इसका पाणिग्रहण करेगा, उसके
पास स्वय लक्ष्मी आकर उसको वरदान देगी ॥६॥

इस दिव्यवाणी को सुनकर स्वामी की समृद्धि के लिए उनका इससे
साथ परिणय कराने का विचार किया परन्तु पाण्ड्यराजपुत्री महादेवी के
भय से मैं स्वय महाराज के साथ इसका परिणय कराने में असमर्थ था । अतः
मैंने सोचा कि अतः पुर में रहती हुई इसकी सुन्दरता का देखकर स्वामी स्वय

१ भूमिपतिभूमौ मू० पा० । २ ग्रहीष्यति मू० पा० । ३ लक्ष्मी मू० पा० ।

४ महाजनेना मू० पा० । ५ अशक्नुवानेन मू० पा० । ६ मिमामवलोक्य मू०

पा० । ७ परिग्रहीष्यति मू० पा० ।

पालनीयेति सादर समर्पिता^१ देव्या । [विचिन्त्य] तत कुत पुन-
रिदानीम् आकर्णयामो^२ वृत्तान्तमेतस्या । कथं चिरादा^३ हूयमानापि
नाभिवर्तते मामन्त पुरचारिणी सुनन्दना ।

[प्रविश्य]

सुनन्दना^४—आर्यं, वन्दे । (अज्ज, वन्दामि ।)

सुबुद्धि—सुनन्दने, कथय चन्द्रकलावृत्तान्तम् ।

सुनन्दना—आर्यं, कथयितुं विभेमि^५ । (अज्ज, कथिदुं भिएमि ।)

सुबुद्धि—कथय । न खलु सम्भावय रहस्योद्घेदमस्मादृशेषु ।

निधाय, परिपालनीया—पोषणीया, इति, देव्या—महाराज्यं, सादरम्—आदरेण
सहितं यथा स्यात् तथा, समर्पिता—दत्ता । तत, कुत—कस्मात्, पुन,
इदानीम्—अधुना, एतस्या—चन्द्रकलाया, वृत्तान्तं—समाचारम्, आकर्णयाम
श्रोष्यामि । कथं, चिरात—बहु कालात्, आहूयमानापि—आकर्ण्यमानापि,
अन्त पुरचारिणी, सुनन्दना—एतन्नाम्नी दासी, माम्, न अभिवर्तते—न उर्पति ?

संस्कृत०—न खलु मत्त रहस्यप्रकटा भविष्यति इति सम्भावना
मा कार्षी । पूर्वं प्रायव भवते मया निवेदितम् । इयं—चन्द्रकला, दर्शन-

हिन्दी०—(प्रवेशकर) आर्य प्रणाम ।

सुबुद्धि—सुनन्दने । चन्द्रकला का समाचार बताओ ।

सुनन्दना—आर्य बताने से डरती हूँ ।

सुबुद्धि—बहो, मुझ जैसे व्यक्ति से रहस्योद्घाटन कभी भी सम्भव नहीं ।
ही परिणय कर लेंगे और मैंने यह कह कर कि यह मेरे कूल की कन्या है आप
अपनी सखी के रूप में मान कर इसका पालन करें महारानी को सौंप दिया ।
[सोचकर] तो इस समय पुन किससे और किस प्रकार इसका समाचार
मालूम करूँ ? क्या कारण है कि अन्त पुर में काम करने वाली सुनन्दना,
जिसको मैंने बहुत देर हुए बुलवाया था वह नहीं रही है ?

१ समर्पिका मू० पा० । २ आकर्णयामि इति पाठस्तूचित । ३ चिरादा
मू० पा० । ४ सुनन्दना मू० पा० । ५ विभेम मू० पा० ।

सुनन्दना-पूर्वं खलु कथितमेव मया आर्याय^१ इयं खलु दर्शनमात्र-
केणैव^२ महाराजानुरागबन्धनं भविष्यतीति आशङ्क्यन्त्या आर्यगौर-
वनियन्त्रितया^३ देव्या प्रियसखीपदे स्थापिता वर्तते^४ । इदानीं च
अतिप्रयत्नेन^५ गोपाय्यमानापि अतर्कितेन देवीसमीपमुपगच्छतः^६
महाराजस्य लोचनगोचरे पतिता । (पुनः कश्चु कथिद उजेव मए अज्ज-
स्स । इअ वखु दसणमत्तकेणज्जेव^७ महाराजाअणुराअबन्धणं भविस्स-
दित्तिसासङ्कन्तिएवि अज्जगौरवणिअन्तिदाए देवीए^८ पिअसहिपदे
स्थापिता वदइ । दाणीं च आदिपत्तेण^९ गोविज्जमाणावि अदकिदेण
देवीसमीपमुवगच्छत्तस्स^{१०} महाराजस्स^{११} लोअणगोअरे पडिता ।)

मात्रकेणैव—दृष्टिपथमवतरन्त्येव, महाराजानुरागबन्धनं भविष्यति—स्वामिनः
प्रेम स्वस्याम् आधास्यति, इति, आशङ्क्यन्त्या—सन्दिहान्या, आर्यगौरवनिय-
न्त्रितया—भवत्प्रतिष्ठाभिभूतया, देव्या—महाराज्ञ्या, (आत्मनः) प्रियसखीपदे,
स्थापिता, वर्तते । च—किन्तु इदानीम्—अधुना, अतिप्रयत्नेन—महता यत्नेन,
गोपाय्यमानापि—निभूत रक्ष्यमाणापि, (सा) अतर्कितेन—सहसा, देवीसमीपम्,
उपगच्छतः, महाराजस्य, लोचनगोचरे—दृष्टिपथे, पतिता—समागता ।

सुनन्दना—पहले ही बता चुकी हैं कि आपके कुल-गौरव का ध्यान रख
कर महादेवी उसे अपनी सखी-मद पर प्रतिष्ठित कर पालन पोषण कर रही
हैं । और महादेवी, इस शका के कारण कि इसके दर्शनमात्र से ही महाराज
इसके प्रति आसक्त हो जायेंगे इसकी उपस्थिति अत्यन्त ही गोपनीय रखती
है । तथापि अचानक देवी के ही पास जाते हुए महाराज की दृष्टि उस पर
पड़ ही तो गयी ।

१ आर्यस्य मू० पा० । २ दर्शनमात्रकेणापि मू० पा० । ३ आर्य
गौरवनियन्त्रितया मू० पा० । ४ अत्र प्राकृते 'वट्टई' इति पाठ उचित ।
५ प्रतिप्रवृत्त्येन मू० पा० भ्रष्ट । ६ उपगच्छता मू० पा० । ७ दसमतवेण
मू० पा० । ८ णिअन्तिदादेवीए मू० पा० । ९ अदिपडित्तेण मू० पा० ।
१० देवीसमीपमुवगच्छत्तस्य मू० पा० । ११ महाराजस्स इति मू० पा० नास्ति ।

सुबुद्धिः—ततस्ततः ।

सुनन्दना—तत इय मन्थरतरलतारकमहाराजमा^१ लोकयन्ती सप्त-
भ्रम देवीपरिजनदूरतो नीता । (तदोद्द^२ मन्थरतरलतारक^३
महाराज आलोअन्ती^४ ममभ्रम देवीपरिअणेहि दूरतो णीदा ।)

सुबुद्धिः—ततस्ततः ।

सुनन्दना—ततः प्रभृति देवीभयात् बाह्यतिरोहितविकारोऽहर्निश
मदनानलभावितान्तरो^५ वर्तते महाराजः । (तदो पदुदि देवीभयादो
बाहिजतिरोहिदविआरो अहणिस मदणाणलममिदन्तरो वदुदि महा-
राओ ।

तत —तदनन्तरम्, मन्थरतरलतारकमहाराजम्—मन्थरा मन्दा निवचलेति
यावत् तथा तरला चचला वा चाकचिक्यपूर्णा तारका अक्ष्ण. कनीनिका यस्य
तादृश महाराजम्, आलोकयन्ती—पश्यन्ती, इय—चन्द्रकला, देवीपरिजनैः—
महाराज्ञ्या. दासीभि, सप्तभ्रम—दृढात्, दूरतो नीता—ततो दूरस्थानं
प्रापिता । तत. प्रभृति—तदारभ्य, महाराज, देवीभयात्, बाह्यतिरो-
हितविकार—बाह्ये बहिर्देशे तिरोहित. निगूढ. विकार. कामविकारो यस्य

सुबुद्धि—तब क्या हुआ ?

सुनन्दना—तब चचल और मदिर नेत्रों से राजा की ओर देखती हुई
उसको देवी की सेविकाओं ने शीघ्रतापूर्वक दूर हटा दिया ।

सुबुद्धि—इसके बाद क्या हुआ ?

सुनन्दना—उस क्षण से महाराज अन्दर ही अन्दर रातदिन काम से
चोहित होने लगे हैं, लेकिन महारानी के डर से यह विकार बाहर प्रकट नहीं
होने देते ।

१ ... मलोकयन्ती मू० पा० । २ इय मू० पा० । ३ समच्छरत-
रलतारक ४ आलोअन्त । ५ मदनानलभमितान्तरो इति पाठ. समीचीनतरः ।

सुबुद्धि—भद्रे ! तत् कथं महाराजस्य त्वरितमनया सङ्गमो भवति^१ ।

सुनन्दना—आर्य, भमोपायेन समुत्पन्न एव । (अज्ज, मम उवायेण समुष्पणो ज्जेव ।)

सुबुद्धि—क पुनरुपायस्ते ?

सुनन्दना—आर्य, महाराजनियोगेन चन्द्रकलामनुसर्तुं त्वरिता न शक्नोमि इह चिरं स्थातुम् । तत् पश्चात् कथयिष्यामि । (अज्ज, महाराजणिओएणि चन्दअल अणुसरिदु तुवरिदा ण सक्कोमि इह चिरं ठादु । ता पच्छा किंहिस्स ।)

[इति निष्क्रान्ता]

सादृश, अहर्निश—रात्रिदिव, मदनानलभावितान्तर—मदनानलेन कामाग्निना भावित सन्दीपितम् अन्तरं हृदयं यस्य तादृशं वर्तते ।

भद्रे—वत्स्याणि ! ततः, कथं महाराजस्य, अनया—चन्द्रकलाया, त्वरित—शीघ्र, सङ्गम—सम्मेलन, भवति—भविष्यति । अत्र वर्तमानसामीप्ये भविष्य-
दर्थे स^२ । महाराजनियोगेन—महाराजाज्ञया चन्द्रकलाम अनुसर्तुम्—अनुगन्तुम्,
त्वरिता—शीघ्रेण युक्ता (अस्मि ०त) इह—अत्र, चिर—बहुकालं यावत्,
स्थातुं न शक्नोमि । राज्यानुसंधानाय—राज्यकार्यसम्पादनाय ।

सुबुद्धि—भद्रे ! तो महाराज का उसके साथ सङ्गम शीघ्र कैसे हो ?

सुनन्दना—आर्य ! मेरे उपाय से सम्पन्न ही है ।

सुबुद्धि—अच्छा तो फिर तुम्हारा उपाय क्या है ?

सुनन्दना—आर्य ! महाराज ने मुझे चन्द्रकला के प्रति सावधान रहने का आदेश दिया है इस कारण शीघ्रता में हूँ, अधिक देर तक रुक नहीं सकती । फिर बताऊँगी ।

(चली जाती है)

सुबुद्धिः—[विचिन्त्य] तदहमपीदानीं राज्यानुसन्धानाय गच्छामि ।
[इति निष्क्रान्तः]

विष्कम्भकः

[ततः प्रविशति मदनावस्था नाटयन् राजा विदूषकश्च]

राजा—[सचिन्तम्]

सा दृष्टिर्नवनीर^१ नीरजमयी वृष्टि^२ स्तदप्यानन
हेलामोहनमन्त्रयन्त्रजनिताकृष्टिजंगचेतसः^३ ।

विष्कम्भकः—भूतानां भाविना च कथाशानां निदर्शकः समाप्त इत्यर्थः ।
तत्त्वज्ञानं यथा 'वृत्तवनिष्यमाणानां कथाशानां निदर्शकः । सक्षिप्तापस्तु
विष्कम्भक आदावद्भूम्यं दर्शितः ॥ इति । तत्र चास्मिन् प्रबन्धे सङ्कीर्ण-
विष्कम्भकः । तस्यापि लक्षणं यथा साहित्यदर्पणे—'मध्येन मध्यमाभ्यां वा
पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः । शुद्धः स्यात्, स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ॥'
तथा चात्र सुनन्दनासुबुद्धिरूपाभ्यां नीचमध्यमपात्राभ्यां कल्पितत्वात् सङ्कीर्ण-
विष्कम्भक इति ज्ञेयः । नाटयन्—अभिनयन् । सचिन्तम्—चिन्तया सहितं
यथा स्यात् तथा ।

सा, दृष्टिः—अवलोकनं, नवनीरनीरजमयी—स्वच्छजलसम्भूतकमलमयी,
वृष्टिः—वर्षणं, तदपि, आनन—मुखः, जगच्चेतसः—जगत जगन्निवासिना-
मित्यर्थः चेतसः चित्तस्य, हेलामोहनमन्त्रयन्त्रजनिताकृष्टि—हेलया

सुबुद्धि—(सोचकर) तो मैं भी अब राजा की देख-रेख करने चलूँ ।

(चला जाता है)

विष्कम्भकः

[इसके बाद पीडित राजा और विदूषक का प्रवेश]

राजा—(सोचता हुआ) उसकी आँखों से प्रतीत होता था जैसे नव जल
में खिलते हुये कमलों की बौछार हो (जैसे निर्मल, स्वच्छ जल में कमल
खिल गये हों) उनसे सुगन्धित जलबूंदों की वृष्टि जैसे सुखदायक होती है,

१ अत्र 'नवनील' इति पाठो युक्तः । २ वृष्टिः स्तदप्यानन म० पा० । ३
कृष्टिजगचेतस मू० पा० ।

सा भ्रूवल्लिरनङ्गशाङ्ग^१धनुषो यष्टिस्तथास्यास्तनु-
लावण्यामृतपूरपूरणमयी सृष्टि^२परा वेधस ॥७॥

विदूषक कथं सुचिरोपस्थितं पश्यन्नपि मा न जानाति प्रियव-
यस्य^४ । (कथं मुद्रोवस्थितं पेक्खन्तोवि म अण जाणादि पिअवअस्सो ॥)

राजा—पुन सा दृष्टि इत्यादि पठति) ।

विदूषक—भो वयस्य, कथमेवमननुभूतपूर्वमधीररत्नमाचरन्
मय्यपि गोपयसि चित्तगतम्^५ । (भो वअस्स^५ कथ एव अणणुभूदपूब्ब

चेष्टया मोहनाय वशीकरणाय प्रयुक्ताभ्या मन्त्रपन्त्राभ्या जनिता उत्पादिता
आकृष्टि आकषण सा, भ्रूवल्लि-भ्रूलता, अनङ्गशाङ्ग^१धनुष-अनङ्गस्य
कामस्य शाङ्गस्य शृङ्गनिमित्तस्य धनुष चापस्य, यष्टि-वज्र, तथा, अस्या
चन्द्रकलाया, तनु-शरीर, लावण्यामृतपूरपूरणमयी-लावण्य सौन्दर्यम् एव
अमृत सुधा तत्त्व पूर प्लाव तेन युक्त पूरण समुद्र तन्मयी, वेधस-स्रष्ट,
परा उत्कृष्टा सृष्टि-रचना (वर्तते । अत्र शार्दूलविक्रीडित छन्द ॥७॥

सुचिरोपस्थित—दीर्घकालाद् विद्यमान, मा—विदूषक, पश्यन्नपि—
विलोकयन्नपि, प्रियवयस्य—प्रियमित्र, न जानाति । अननुभूतपूर्व—पूर्व

उसी प्रकार उसकी दृष्टि पड़ने के कारण सुख का अनुभव होता है) उसका
मुख अलौकिक सौन्दर्य से ससार को आकृष्ट करने वाला, उसकी रस क्रीडा
मानो मोहन मंत्र का यन्त्र है । उसकी भ्रूलता, मानो काम देव के शङ्खधनुष
की यष्टि है और सम्पूर्ण शरीर जैसे सौन्दर्य रूपी अमृत से उकनाता हुआ
समुद्र है । प्रतीत होता है यह कथा ब्रह्मा की सर्वश्रेष्ठ रचना है ॥७॥

विदूषक—मया कारण है, मित्र । कि इतनी देर से यहाँ उपस्थित देखते
हुए मुझे पहिचान नहीं रहे हो ?

राजा—(पुन 'उसकी वही दृष्टि' इत्यादि कहता है)

विदूषक—मित्र । हृदय की अधीरता मुझसे क्यों छिपा रह हो ? एसी

१ वलि मू० पा० । २ शाङ्गो मू० पा० । ३ सृष्टिपरा मू० पा० ।

४ प्रिय प्रियवयस्य मू० पा० । ५ अवस्स मू० पा० ।

अधीरता आग्रन्तो मयिबि गोवेसि चित्तगद ।)

राजा—(पुनस्तदेव पठति) ।

विदूषकः—[उच्चैः] यद्यह रहस्योद्भेदभाजनमपि न ते तदितो गच्छामि । (जइ अह रहस्सभेदवाअण पि ण दे ता इदो गच्छम्मि ।)

राजा—[विलोक्य] कथं समीप एव वर्तते मे प्रियवयस्यो रसालकः । सखे, मया सलु न विदितोऽसि धरणीचिन्तापरवशेन ।

कदापि न अनुभवाविषयीकृतम्, अधीरत्वम् अधीरताम्, आचरन्-विदधत्, (उत्पाटितशेषकण्टकस्य-उत्पाटितानि निर्मूलीकृतानी अशेषकण्टकानि निखिल-शत्रवो येन तादृशस्य ।)

मय्यपि, चित्तगत-हृद्गतभाव, गोपयसि-निगूढयसि । रहस्योद्भेदभाजन-गुप्तवार्ताकथनपात्रम् । रसालक-एतन्नामा विदूष । विशेषेण वृद्धयति स्व पर वा इति विदूषक वि + दूप् + णिच् + ण्वल्-अक । अस्य लक्षणमिदम्-वयस्पर्शचाटुपट स एव च विदूषक । अन्तः पुरचरो राजा नर्मानात्य प्रकीर्तित ॥ इति सागर । साहित्यदर्पणकारस्य मते-‘कुसुमवसन्ताद्यभिध कर्मवपुर्वेषभाषाद्यं । हास्यकर कलहरतिविदूषक स्यात् स्वकर्म ॥ स्वकर्म = मयुरभोजनम् । धरणीधि-तापरवशेन-पृथ्वीपालनचिन्ताधीनतया ।

अधीरता इसके पूर्व तो कभी नहीं देखी गयी ।

राजा—पुनः वही कहता है ।

विदूषक—(उच्च स्वर से) यदि मैं रहस्य-भेद जानने योग्य भी नहीं हूँ, तो मैं यहाँ से चला जाता हूँ ।

राजा—(देखकर) क्या मेरे प्रिय मित्र रसालक मेरे निकट ही उपस्थित हैं ? सखे ! राज्य की चिन्ताओं के कारण देख नहीं सका । (यन चिन्ताओं के कारण व्यग्र रहा इसी से ध्यान नहीं गया) ।

विदूषक—उत्पाटिताशेषकण्टकस्य राज्यपालननियुक्तधीसचिवस्य
लितरतिमात्रकोतूहलस्य न खलु ते धरणीचिन्ता किन्तु तरुणी-
न्ता । (उद्वाडिदासेसकण्टकस्य रजुपालणणिउत्तधीसइवस्स
लिदरदिमेतकोदूहलस्स ण खलु दे धरणीचिन्ता किन्तु तरुणी-
न्ता^१ ।)

राजा—[सभयम्] आ, मिथ्यावादिन्^२ । नीचं शस^३ ।
सन्तलेखैकनिबद्धभाव परासु कान्तासु मन कुतो मे^४ ।
फुल्लमल्लीमधुलम्पट किं मधुव्रत काङ्क्षति^५ वल्लिमन्याम् ॥८॥

राज्यपालननियुक्तधीसचिवस्य—राज्यरक्षाया नियुक्तो बुद्धिमान मन्त्री
न सादृशस्य, कलितरतिमात्रकोतूहलस्य—वलित चिन्तित रतिमात्रस्य
तमत्रीडाया एव कोतूहल कोतुक येन सादृशस्य, ते तरुणीचिन्ता, वर्तते, न
खलु, धरणीचिन्ता । नीचं शस—मन्दस्वरेण वद ।

वसन्तलेखैकनिबद्धभाव—वसन्तलेखाया तदाख्ये नायिकाविशेषे एक
ज्वल निबद्धो भावाऽनुरागो येन तत्सादृश मे—मम, मन-चित्त, परासु-
सन्तलेखाभिनासु, कान्तासु-सुन्दरीषु, कुत—कथं गच्छति ? अपितु
न्यमपि नेत्यर्थः । तथाहि, प्रफुल्लमल्लीमधुलम्पट—प्रफुल्लताया

विदूषक—आपने अपने शत्रुरूपी कण्टको को समूल नष्ट कर डाला है,
पासन के लिए योग्य मंत्रियों को नियुक्त कर लिया है । आप रतिप्रिय रसिक
हैं, निश्चित ही आपको राज्य की नहीं, तरुणी की चिन्ता व्याकुल कर रही है ।

राजा—(भयभीत हो) अरे, असत्यवादी ! धीरे धीरे ही बोलो ।
मेरा हृदय तो वसन्तलेखा मे अनुरक्त रहता है, अन्य रमणियों मे नैसे
(अनुरक्त) हो सकता है (वदापि नहीं) । खिली हुई चमेली के मधुरस में
श्रावद्ध भौरा क्या कभी किसी अन्य लता पर जाने की इच्छा करता है ?
(कभी नहीं) ॥८॥

१ तरुणि चिन्ता मू० पा० । २ मिथ्यावादिने मू० पा० । ३ नीचं
शशनिर्धं शस मू० पा० । ४ अत्रन इति साहित्यदर्पणे । ५ काङ्क्षति मू० पा० ।

विदूषक—भो वयस्य, सत्य । यदा पुनर्मल्लिकापि ग्रीष्मकाल-
परिणामेनापसरन्मधुरसा भवति^१, तदा घनकालसमागमेनाभि-
स्फुरत्कदम्बवल्लि^२ मोक्षमिलपति । (भो वयस्स, सच्च । जदा
पुण मल्लिकापि मिह्याआलपरिणामेणओसरणन् भदुरसा भोदि तदा
घनकालसमागमेण अहिप्फुरन्त^३ कदम्बवल्लि सोवि अहिलमदि ।)

राजा—सखे, तूष्णीको भव । अलमनेनालीकपरिहासेन ।

विदूषक—[सरोपम्] भो वयस्य, यदीदानीम् अह रहस्यभेद-
भाजनमपि न ते तत् इतो गच्छामि । (भो वयस्स, ज्जइदानी अह
रहस्मभेदभाजण^४ पि ण दे^५ ता इदो गच्छम्मि^६ ।)

[इति गन्तुमुपक्रमते]

प्रस्फुटिताया मल्ल्या मल्लिकाकुसुमस्य मधुलम्पटो मधुपानलोमी मधुव्रत —
भ्रमर, किम्, अन्या, वल्लि लता, काङ्क्षति—कामयने ? अपि तु कथमपि
नेरययं । अत्र श्लोके प्रतिबन्तूपमाङ्गनङ्कार तथा उपेन्द्रश्चाच्छद ॥८॥

यदा, मल्लिकापि, ग्रीष्मकालपरिणामेन—ग्रीष्मर्तोरवसानेन, अपसरन्मधुरसा-
अपसरन् विालन् मधुरसो यस्या तादृशी, भवती तदा, घनकालसमागमेन—
वर्षर्तोरगमनेन अभिस्फुरत्कदम्बवल्लि—प्रस्फुटत्कदम्बलता, सोऽपि—अवरोडि,
अभिनपति—वाञ्छति । तूष्णीको भव—मीनमालम्बस्व । अलीकपरिहासेन—
मिथ्यापरिहासेन, अल व्यर्थम् असाम्प्रतमित्यर्थ ।

विदूषक—सत्य कह रहे हो मित्र । किन्तु जब ग्रीष्मकाल बीतने पर
मल्लिका (चमेली) मधुरस से रहित हो जाती है तब वर्षा के साथ फलने
वाली कदम्बलता पर भी जाने की इच्छा वह भोरा करता है ।

राजा—सखे, चुप रहो । छोड़ो यह व्यर्थ का परिहास ।

विदूषक—(क्रोधित होकर) यदि मैं रहस्यभेद जानने योग्य भी नहीं हूँ
तो मैं जाता हूँ यहाँ से । (जाने लगता है)

१ मधुसा भवत मू० पा० । २ कदम्बवल्लि मू० पा० । ३ अहिप्फुपूरन्त मू०
पा० । ४ हरस्मुभेदभाजण मू० पा० । ५ वे मू० पा० । ६ गच्छामि मू० पा० ।

राजा—[करे घृत्वा] सखे, तिष्ठ तिष्ठ । तद् यथा देवी न जानाति, तथा त्वयाचरणीयम् ।

विदूषक—यदा देवी जानाति तदा एवमेव^१ शपामि ।

(यदा देवी जाणादि तदा एव ज्जेव सवामि ।)

[इति यज्ञोपवीत स्पृशति^२]

राजा—सखे, अद्य खलु देवीसमीपमुपगच्छता मयान्तःपुरे काञ्चि कन्यका दृष्टा । इयं खलु—

तारुण्यस्य विलासः समधिकलावण्यसम्पदो हास^३ ।

धरणितलस्याभरणं युवजनमनसो वशीकरणम् ॥६॥

तारुण्यस्य—यौवनस्य, विलास—प्रकाश यौवनस्यातिशयप्रकाशस्यानमित्यर्थः, समधिकलावण्यसम्पद—समधिकायाः प्रचुरायाः लावण्यसम्पदः सौन्दर्य-सम्पत्तेः, हास—विकासः अतिशयविकासस्यानमित्यर्थः, धरणितलस्य—पृथ्वीतलस्य, आभरणम्—अतिशयेन अलङ्काररूपा, (तया) युवजनमनस—युवकानां चित्तस्य, वशीकरणम्—अतिशयवशीकरणहेतुः । अत्र दीप्तिर-लङ्कारः आर्याच्छन्दः ॥६॥

राजा—(हाथ से पकड़ते हुए) रुको ! मित्र ! रुको ऐसा करो कि देवी न जानने पायें ।

विदूषक—देवी, नहीं जानने पायेंगी, इसके लिए मैं शपथ खाता हूँ ।

(कहकर यज्ञोपवीत छूता है)

राजा—सखे ! आज, मैंने अन्तःपुर में देवी के पास जाती हुई एक कन्या को देखा है । यह (कन्या) निश्चय ही—

यौवन का विलास, विखरते हुए सौन्दर्य की सम्पत्ति का हास, धरती-तल का आभूषण तथा युवकों के मन के लिए वशीकरण मंत्र है । ॥६॥

१ एव मे मू० पा० । २ स्पृशति मू० पा० । ३ समधिकसम्पदा हास-मू० पा० ।

विदूषकः—ततः किं तथा प्रतिपन्नम् ? (तदो किं ताए पडिवण्ण ?)

राजा—अनन्तर च—

मुहुः स्मेरापाङ्गं दरविगलिता^१ कुचितपुटं
वितन्वाना दृष्ट्वा परिमितनिमेषं मयि मनाक् ।

विदूषक—राशीकृतानि मरुता नवखण्डकूट-

तुल्यप्रभाणि सहवारप्रसूनकानि ।

चित्तं हरन्ति गुडलङ्घकस्वच्छभावा-

क्रूरप्रभिन्नमुकुलाश्च अशोकगुच्छाः ॥१०॥

(रासिक्कदाइ^२ मरुताणवखण्डकुड-

तुल्लपहावाइ सहवारप्पुसुणभाइ

चित्तं हरन्ति गुडलङ्घकस्वच्छभावा-

क्रूरप्प^३ भिन्नमउलाअ अशोकगुच्छा ॥१०॥)

ततः, तथा—कन्यकया, किं प्रतिपन्नम्—किं कृतम् ?

मुहुः—भूयो भूयः, दरविगलिताकुचितपुट—किञ्चित्फारितनयन,
स्मेरापाङ्गं—स्मितिपूर्वक नेत्रयोरन्त, मयि, मनाक्—ईषत्, वितन्वाना—
विस्तारयन्ती, (सा) परिमितनिमेष—क्षणं यावत्, दृष्ट्वा—विलोकिता ।

मरुता—वायुना, राशीकृतानि—सञ्चितानि, नवखण्डकूटतुल्यप्रभाणि—

विदूषक—तब उसने क्या किया ?

राजा—और तब—मैंने कुछ क्षणों तक देखा कि वह मेरी ही ओर अपने
अर्द्धनिमीलित नेत्र-कटाक्षों से मुसकराती हुई देख-सी रही थी ।

विदूषक—नयी साँठ के ढेर की भाँति वायु के द्वारा गिराये गये आम के
बीरो का समूह और गुड के बने विमल लङ्घू की तरह अशोक के फूलों के
ये गुच्छे, क्रूर वायु ने जिनके मुकुलों को प्रस्फुटित कर दिया है, अपने-
दर्शनमात्र से चित्त को चुरा लेते हैं ॥१॥

१ दरविलिता मू० पा० । २ कदाइ मू० पा० स्वतित । ३ वेखण्ड
मू० पा० ।

॥ ततः प्रविशति^१ 'सखि, पश्य पश्य' इति^२ नाटयन्ती चन्द्रकला
सुनन्दना च ॥

चन्द्रकला—[दीर्घं^३ नि श्वस्य स्वगतम्] अपि नाम^४ एष महा-
राज^५ पुनरपि मे लोचनपथा^६ लकरण भवेत् । (अवि नाम एतो
महाराओ पुणोवि मे लोअणपथा अलकरण भवे ।)

सुनन्दना—अद्य प्रियसखि ! (अदि पिअसहिए !)

[इत्युभे माधवीलताया कुसुमावचय नाटयत ।]

विदूषक—[अग्रतः अवलोक्य आश्चर्यम्] आश्चर्यं, कथमिह
महीतले सुरकन्यका परिभ्रमति ! (अम्मो, कइ इध^७ महिदले

नवीनशर्कराराशिसमकान्तीनि, सहकारप्रसूनकानि—आम्रनञ्जयं, (तया)
गुडलड्डुकस्वच्छभावाक्रूरप्रभिन्नमुकुला—गुडमोदकवत् स्वच्छ भावेन तया
मादंवेन प्रभिन्नानि प्रस्फुटितानि कुडमलानि येषां तथाभूता, अशोकगुच्छा—
अशोकस्तवका, च, चित्त, हरन्ति—आकर्षन्ति । अत्र इन्द्रवज्राच्छन्द ॥१०॥
नाटयन्ती—अभिनयन्ती । दीर्घं—दीर्घकाल यावत्, नि श्वस्य—श्वासात्माकृष्य,
स्वगतम्—परैरश्रुततया मनस्येव केवल चिन्त्यते—यथा साहित्यदर्पणे—'अत्राव्य-
खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम्' स्वगतम् आत्मगतं च पर्यायी । लोचनपथा-
लकरणम्—दृष्टिपथस्य शोभा दृष्टिगोचर इति यावत् । कुसुमावचय—

[इसके पश्चात् सखि, देखो देखो कहती हुई चन्द्रकला, और सुनन्दना प्रवेश
करती है ।]

चन्द्रकला—(नि श्वास के साथ स्वयं) क्या यह सम्भव है कि महाराज
पुनः मेरे दृष्टि पथ को शोभित कर सकें ?

सुनन्दना—आज ही प्रिय सखि ! [दोनों माधवीलता का पुष्प-चयन
करने का नाटय करती है ।]

विदूषक—(सामने देखकर आश्चर्य से) आश्चर्य है, क्या देव-कन्या

१ अयं मू० पा० नास्ति । २ ईयं मू० पा० । ३ ना मू० पा० । ४ महा-
राज मू० पा० । ५ यथा मू० पा० । ६ ईदं मू० पा० ।

सुरकण्णआ^१ परिधमदि ।)

राजा—अधो विन्यस्यन्ती मुखकमलमुद्भिन्नपुलकम् ।

कवचिन्नीता बाला द्रुतमहह देवीपरिजनै ॥११॥

विदूषक—तत किं तया आचरितम् ? (ततो किं तए आचरिदम् ?)

राजा—सद्ये, किमन्यत् ? अनया खलु वध्वा निजगुणसर्पभृश
समाकृष्टचेतसः प्रसभ-हृदये दिवानिश मे भवति मदनानलो
ज्वालित ।^२

पुष्पश्रोतन, नाटयत—अभिनयत । महोनने—भूतले, सुरकण्यका—देवबाला,
परिधमति—इतस्ततः सञ्चरति ।

उद्भिन्नपुलक—रोमाञ्चिन, मुखकमलम्, अध—नीचे, विन्यस्यन्ती—
कुर्वन्ती, बाला—सा कन्यका, अहह इति सेदे, द्रुत—शीघ्र, देवीपरिजनै—
महारानीपरिचारिकाभिः, क्वचित्—कुत्रचित्, नीता—प्रापिता । अस्य
श्लोकस्य पूर्वांशं 'मुहु स्मेरापाङ्गम्' इत्यादि । अत्र शिखरिणीच्यवद ॥११॥
वध्वा—स्त्रिया, निजगुणसर्प—स्वकीयगुणसमूह, भृशम्—अत्यधः, समाकृष्ट-
चेतस—अपहृतचित्तस्य, मे—मम, हृदये, दिवानिश—रात्रिर्दिव, प्रसभ—बलात्,
मदनानल—कामाग्निः, ज्वालित—सन्दीपित ।

पृथ्वी-तल पर घूम रही है ?

राजा—ओह ! पुलकायमान (रोमाञ्चित) मुख-कमल को नीचे की
ओर किए हुए वह बाला महारानी की परिचारिकाओं द्वारा कहीं दूर हटा
दी गयी ॥११॥

विदूषक—इसके बाद उसने क्या किया ?

राजा—सद्ये । क्या कहूँ ? उस बाला ने तो अपने गुणों के द्वारा मेरे
चित्त को इस भाँति आकृष्ट कर लिया है कि मेरे हृदय में रात-दिन कामाग्नि
जलती रहती है ।

१-सुरकण्णआ मू० पा० । २ सद्ये किमन्यत् ? अनया खलु वध्वा निजगुणसर्प
मृटीतुसमाकृष्टचेतसः प्रसभ-हृदये दिवानिश मे दोदि मदनानलो ज्वालित मू० पा० ।

विदूषकः—आश्चर्यम्, तदविलम्बितं परिसृत्य दीर्घिकोद्धृतसलिल-
कुम्भेन निर्वाप्यतामेष वह्निः । (हिमाणहे, ता अविलम्बितं परिसिरञ्च
दिहिआश्चिअ सलिलकुम्भेण णिव्वावअदू एसो वह्निः ।)

राजा—[ईषद् विहस्य] सखे,

परिहाय सुधाधारा तामेव मृगलोचनाम् ।

याति^१ निर्वाणतामेष, कथ्यतां कथमन्यथा ॥१२॥

विदूषकः—भो वयस्य, तत् किम् ईदृशावस्थागतेनापि त्वया एता-
वन्त कालं तूष्णीकेन वृत्यते ? अथ को वा चिन्तितस्तस्याः^२

तत्—तस्मात्, अविलम्बितं—शीघ्रं, परिसृत्य—गत्वा, दीर्घिकोद्धृतसलिल-
कुम्भेन—वापीतः घटेन जलमुद्धृत्य, एष वह्नि—मदनानलः, निर्वाप्यताम्—
प्रशम्यताम् ।

सुधाधाराम्—अमृतधारामिव, तामेव, मृगलोचना—हरिणाक्षी, परिहाय—
त्यक्त्वा, अन्यथा—अन्यप्रकारेण, एष—वह्नि, कथ, निर्वाणतां—शान्ति,
याति—गच्छति, (इति) कथ्यताम्—उच्यताम् ॥१२॥
ईदृशावस्थागतेनापि—इमा दशा प्राप्तेनापि, तूष्णीकेन—मौनिता, वृत्यते—
स्थीयते ।

विदूषकः—बड़ा ही आश्चर्य है, तब तो आप तुरन्त बिना विलम्ब किए
घड़ा लेकर जाइए और तालाब से जल लाकर इस अग्नि को शान्त कीजिए ।

राजा—(मुसकराकर) सखे !

यह अग्नि केवल अमृत की धारा के समान उसी मृगनयनी से शान्त हो
सकती है, अन्य किसी भी उपाय से असम्भव है ॥१२॥

विदूषक—भो मित्र ! तो ऐसी दशा को प्राप्त हो जाने पर भी इतने
समय तक शान्त क्यों हैं ? अथवा उसकी प्राप्ति के लिए कोई उपाय
सोचा ?

सङ्गमोपायः ? (भो बअस्स, ता किं ईदिसा अवत्थागदेणावि तए^१ एत्तिकं कालं तुल्लिकेण बट्ठी ? अघ वेदा चित्तदो तससङ्ग-
मोवाओ ?)

राजा—सखे, अनया^२ बद्धसख्यया सुनन्दनया^३ कुसुमावचयव्याजा-
दिदानीमेव लीलोपवनमानीता तर्ध^४ व महाराजनयनपथातिथिभं-
वत्विति प्रतिताम्य । [सविस्मयम् अङ्गानि^५ निदिश्य] कथमत्र—
अञ्जद्वन्द्वमहिनिशं विकसितं सौवर्णमन्त्राहितं
रम्भास्तम्भयुगं ततश्च पुलिनं लावण्यवारिप्लुतम् ।

बद्धसख्यया—बद्धं दृढमूलं सख्यं मैत्री यस्याः तादृश्या, कुसुमावचयव्याजा-
पुष्पवचनमिपात्, लीलोपवनं—कोशोद्यानं, महाराजनयनपथातिथिः—महाराजस्य
दृष्टिगोचरी भवतु, इति, प्रतिताम्य—विचार्य । अङ्गानि नायिकाया इति
शेषः ।

अह्निशं—रात्रिर्निध्यं, विकसितं, सौवर्णं—स्वर्गनिर्मितम्, अञ्जद्वन्द्वं—
कमलद्वयं (पादद्वयम्) अत्र—नायिकायाः शरीर इत्यर्थः, आहितं—स्थितं
(वसितं), (तदुपरि) रम्भास्तम्भयुगं—कदलीस्तम्भद्वयं (जंघाद्वयं),

राजा—सखे ! इस समय उसकी सखी सुनन्दना पुष्प-वचन के बहाने
उसे लीली-उपवन में इसी विचार से ले आयी है कि वही पर कदाचित्
महाराज के नेत्रों की अतिथि यह हो जाय (महाराज का दर्शन हो जाय,
अथवा महाराज इसे देख लें ।) [विस्मय के साथ अंगों की ओर निदेश
करके] क्या यहाँ—

रात दिन एक तरह से विकसित रहने वाले दो स्वर्ण-कमल (तलाई से
जरे चरण) स्थित हैं । उनके उपर कदली के दो स्तम्भ (जंघें) हैं । उसके
आध सौन्दर्य के जन में डूबा हुआ (न दिखाई पड़ने वाला) पुलिन (कटि-तट)

१ ईदिसा अवत्थागदेणात्थितए मू० पा० । २ अनया मू० पा० ।

३ बद्धसख्यया सुनन्दना मू० पा० । ४ सविस्मयविस्मयङ्गानि मू० पा० ।

तस्मिन्नुन्मदकुम्भिकुम्भयुगलं रत्नकलेखादृतं^१

राजत्यत्र पुनः कलङ्करहितः शीतद्युतेर्मण्डलः ॥१७॥

[विचिन्त्य] नूनमियमन्तर्निहितं प्रमदनविकारा वर्तते, यतः—

हसति परितोपरहितं निरीक्ष्यमाणापि नेक्षते किमपि ।

सख्यामुदाहरन्त्या^३ मसमञ्जसमुत्तर दत्ते ॥१४॥

ततश्च—तदुपरि च, लावण्यवारिण्युत—सौन्दर्यजनभरितं, पुलिन—(कटि-)

तटं, तस्मिन्—तदुपरि, उन्मदकुम्भिकुम्भयुगल—मत्तगजस्य कुम्भद्वयम्

(इव कुचद्वन्द्व), रत्नकलेखादृतं—रत्नावल्या — शोभितम्, अत्र पुनः,

कलङ्करहितः—निष्कलङ्कः, शीतद्युतेर्मण्डलः—चन्द्रमण्डलः (मुख),

राजति—शोभते अथ । शार्दूलविक्रीडित छन्दः ॥१३॥

नूनं—निश्चितम् इयं—नायिका, अन्तर्निहितप्रमदनविकारा—अन्तः-

मनसि निहित आहित प्रमदनविकार कामवेगो यथा सा तादृशी,

वर्तते ।

परितोपरहित—सन्तोषवर्जितं यथा, स्यात् तथा हसति, निरीक्ष्यमा-

णापि—अवलोक्यमानापि, किमपि, नेक्षते—न पश्यति । सख्याम्—

है । उस सौन्दर्यजन के बीच मतवाले हाथी के मस्तक के उभड़े हुए दो

राग (जैसें दो स्तन) रत्न (मोती) की एकावली माला से आभूषित हैं ।

और पुनः इनके ऊपर कलङ्करहित चन्द्रमण्डल (मुख) चाँदनी सरस

रहा है ॥१३॥

(सोचकर) निश्चित ही यह भी अन्दर काम से पीड़ित है, क्योंकि यह

हँसती है, पर सन्तोषपूर्वक नहीं (खिलकर नहीं) वह कुछ देखती भी प्रतीत

होती है परन्तु देख कुछ भी नहीं रही है, उसकी सखी उससे जो कुछ कहती

है, उसका भी वह उचित उत्तर नहीं देती ॥१४॥

१ रत्नकलेशोद्धृत मू० पा० । २ अन्तर्निहित मू० पा० । ३ सख्यामुदा-
हरन्त्याम्..... मू० पा० ।

विदूषक — [चन्द्रकलां निर्दिश्य] भो वयस्य, तदिदानीम् अमुया-
सुधाधारया निर्वापयतु ज्वलित मदनानल^१ । (भोवयस्य, तादानी-
ईमाए सुधाधाराए णीव्वाविअदु^२ जलितो मदणाणलो ।)

राजा—सखे, इदमेवोचितमिदानीम्^३ । तथापि क्षणमिहैव लता-
न्तरितो रहस्यवृत्तिमालोकयावस्तावदेतस्या ।

[इत्युभौ लतान्तराले^४ प्रविशत]

चन्द्रकला—[दीर्घं निः श्वस्य स्वगतम्] हृदय, हृदय, तादृशदुर्ल-
भार्थविहितनिबन्धस्य^५ समुचिता ते ईदृशी अवस्था ।
(हिअअ, हिअअ, तादिसदुल्लहय्यविहिदणीवद्वस्स^६ समुइदा
अवस्था ।)

आत्मान, उदाहरन्त्या—यत्किञ्चिदवदन्त्या सत्याम्, असम-जसम्-अयुक्तम्
उत्तर, दत्ते—इदामि ॥१४॥

भो वयस्य—हे मित्र । तत्, इदानीम्, अमुया—दृश्यमानया-
सुधाधारया—अमृतधारया, ज्वलित—प्रदीप्त, मदनानल—कामाग्नि, निर्वापयतु—
प्रशमयत । लतान्तरितो—लतामध्ये गुप्त स्थित्वेत्यर्थः, एतस्या—वालाया
रहस्यवृत्ति—गुप्तचेष्टाम्, आलोकयाव—पश्याव । लतान्तराले—लतामध्ये ।
तादृशदुर्लभार्थविहितनिबन्धस्य—तादृशे दुर्लभार्थे दुष्प्राप्ये वस्तुनि विहित कृत
निबन्ध दुरापहो येन तादृशस्य,

विदूषक—(चन्द्रकला को निर्देश कर) हे मित्र । तो अब इस अमृत-
धारा से, जलती हुई कामाग्नि को बुझाओ ।

राजा—इस समय उचित यही है मित्र । फिर भी क्षणभर हम दोनों
लता की ओट में खबर तक तक इसकी गुप्त क्रियाओं को देखें ।

[रसके बाद दोनों लता की ओट में प्रवेश करते हैं]

१ ज्वलितो मदनानल मू० पा० । २ णीव्वाविअदु मू० पा० । ३ इद-
वोचितमिदानीं मू० पा० । ४ लतान्तरितो मू० पा० । ५ निबन्धस्य मू० पा० ।
६ ता हिअअ —

सुनन्दना—सखि चन्द्रकले^१, इदं खलु अत्र स्तोकोन्नताया केशर-
लताया शाखाया^२ वर्तते रमणीयं कुसुमम् । तदिदानीम् उच्चिनोतु
एतत् प्रियसखी । (हला चन्द्रकले, इदं खलु एष्य स्थोकउन्नदाए
केशरलतादाए साहाए वट्टदि रमणिज्ज कुसुम । ता दाणी उच्चिणोदू^३
त पिअसही ।)

राजा—[निश्चय] शृणु तावत् । चन्द्रकलेति नामास्या ।

विदूषक—भो वयस्य, त्वमपि^४ महीमहेश्वर । (भो वयस्स^५
तुमपि महीमहेश्वरो ।)

राजा—तत् किम् ।

विदूषक—तद्युक्तं खलु ते शिरसि निधानमेतस्या । (ताज्जुत्तं^६
खलु दे सिरसि निधाने एदाए ।)

स्तोकोन्नताया—अल्पोच्छ्रिताया । महीमहेश्वर—पृथिव्या प्रभु पक्षे महेश्वर
शकर चन्द्रकला इन्दुकलेति बोध्यम् । एतस्या—चन्द्रकलाया, निधान—रक्षण ।

सुनन्दना—सखि चन्द्रकले । इसी धोड़ी सी ऊँची केशरलता की शाखा
पर एक अत्यन्त सुन्दर पुष्प है । प्रिय सखी, तुम इसे तोड़ो ।

राजा—(सुनकर) (मित्र !) सुनो, इसका नाम चन्द्रकला है ।

विदूषक—तुम भी मही (पृथ्वी) के महेश्वर (राजा) हो । (पृथ्वी)
के पक्ष में राजा, चन्द्रकला के पक्ष में शकर ।)

राजा—तो इससे क्या ?

विदूषक—निश्चय रूप से आपके सिर पर इसे प्रतिष्ठित होना उचित है ।
(आपके साथ इसका परिणय उपयुक्त होगा ।)

१ इदं सखी चन्द्रकले मू० पा० । २ केशरलताया शाखाया मू० पा० ।

३ उच्चिणेदू मू० पा० । ४ त्वमिति मू० पा० । ५ वयस्स मू० पा० ।

राजा—[ईषद् बिहस्य] सखे, कथमीदृशो मादृशाना भाग्योदयः ।
[चन्द्रकला बाहुमुन्नमय्य उन्नतशाखागतकेशरकुसुमावचय नाटयति]

राजा—[सस्पृहमालोक्य] सखे, पश्य सखिदानी—

दरप्रकाशे कुचकुम्भमूले द्रुत निषत्य द्रुतकर्बुराभे^१ ।

लावण्यपूरे विनिमग्नमुर्चनं मे^२ कदाचित् वहिरेति चेतः ॥१५॥

विदूषकः—नदविलम्बित कंवत् प्रवेश्य उत्तोलयतु । (ताता-
विलम्बित केवट^३ प्रवेशित उत्तोलयतु ।)

उन्नमय्य—उत्थाम्य, उन्नतशाखागतकेशरकुसुमावचयन्—उन्नतांशु शाखानु
स्थितानां केशरकुसुमानां अन्वयं बोद्धुम् । सस्पृहम्—स्पृहया अभिलाषेण
सहितं यथा, स्यान् नया, जालोक्य—दृष्ट्वा ।

दरप्रकाशे—ईषद्दृश्यमाने, द्रुतकर्बुराभे—द्रवीभूतस्वर्णमय आभा कान्ति
इव आभा यस्य तादृशे, लावण्यपूरे—सौन्दर्यप्रवाहे, कुचकुम्भमूले—घटाकार
स्तनयो मूलदेशे, उर्चनं—साधनर, विनिमग्न—मग्नीभूत, मे—मम,
चेत—मन, कदाचित्, वहि न, एति प्राप्नोति । अत्र उपजातिच्छन्दः ॥१५॥

कंवत्—धीवर, प्रवेश्य, (स्व चित्तम्) उत्तोलयतु—ततो निष्कासयतु ।

राजा—(कुछ मुमकरा कर) मित्र ! मृग जेमे व्यक्ति का ऐसा भाग्य
कहा है ?

[चन्द्रकला बाहुओं का उठाकर ऊपर उठी हुई केशरशाखा के पुष्प को
तोड़ने का प्रयाम करती है]

राजा—(लालच के साथ देखकर) मित्र ! देखा, इस समय—

इसके घट सदृश कुचा का मूल भाग जो कुछ-कुछ दिखाई दे रहा है,
जिसकी कान्ति पिघले हुए सुवर्ण की-सी है और जो मानो सौन्दर्य की धारा
है, मे बुरी तरह सूबा हुआ मेरा चित्त बाहर नहीं निकल रहा है ॥१५॥

विदूषक—विलम्ब न करे ! तुरन्त मल्लाह को भेजकर उसे ऊपर बाहर
निकलवाइए ।

राजा—अहो सुबुद्धिता प्रियवयस्य^१ ।

सुनन्दना—सखि, पश्य पश्य, इय खलु उन्मीलत्परिमल सहकार-
पादपम् अचिरेणैव आलिङ्गिष्यति नवकुसुमिता बालमाधवीलता^२ ।
(हला पेवख, पेवख, इय वसु उन्मीलन्तपरिमल सहकारपादप
अक्षरेणजेव आलिङ्गिस्सदि नवकुसुमिता बालमाधवीलता^३ ।)

चन्द्रकला—[सविवारमिव पश्यति]

विदूषक—भो वयस्य, शृणु तावत्^४, साभिप्राय खलु इद वचनम् ।
(भो बअस्स, शृणु दाव साभिप्पाअ वसु एव वअण ।)

राजा—न खलु सम्भावयामि मे पुण्यपरिपाकमीदृशम् ।

सुनन्दना—सखि, अमुष्या नवमालिकाया मया उच्चीयन्ते वृसु
मानि । त्वया पुनस्तस्या माधवीलताया उच्चीयन्ताम् ।

सुबुद्धिता—बुद्धिमत्ता (इय ध्यम्योक्तिरय) । नवकुसुमिता—नवपुष्पिता
बालमाधवीलता । उन्मीलत्परिमलम्—विकिरत्सौरभ, सहकारपादपम्—
आश्रयवृक्षम्, अचिरेणैव—शीघ्रमेव, आलिङ्गिष्यति—परिप्लव्यते, साभि-
प्रायम्—तात्पर्यसहितम् । पुण्यपरिपाक—सौभाग्यम्, वृसुमानि—पुष्पाणि
उच्चीयन्ते—नोदयन्ते ।

राजा—मित्र तुम्हारी बुद्धि प्रशसनीय है ।

सुनन्दना—सखि ! देखो, देखो, नवपुष्पित बाल माधवी लता शीघ्र ही,
सौरभित आश्रयवृक्ष का आलिंगन करने वाली है ।

चन्द्रकला—(आकुल, उन्मादित हृदय से देखने लगती है)

विदूषक—मित्र ! अब यह अभिप्राय युक्त वार्तालाप सुनो ।

राजा—मित्र ! अपने पुण्यकर्मों से ऐसी आशा नहीं करता (हमारे पुण्य-
कर्म ऐसे नहीं हैं)

सुनन्दना—सखि ! इस नवमल्लिका के पुष्पों को मैं तोड़ रही हूँ । तुम
उस माधवीलता के फूलों को तोड़ो ।

—१ प्रियवयस्यस्य मू० पा० । २ अत्र बालइति मू० पा० नास्ति ।

३ बालमाधवीलता मू० पा० । ४ शृणु तावत् शृणु तावत् मू० पा० ।

(हला, इमाङ्गोमातिआए मए^१ उच्चिणिअन्ते^२ कुसुमाइ^३ । तस पुणताए माहवीलदाए उच्चिणीअन्तु ।)

[इति राजालङ्कृता माधवीलतामङ्गु त्या निर्दिशति]
चन्द्रकला—यद्रोचते प्रियसर्प । (यं रोअदि पिअसहिए ।)

[इति गच्छति]

[राजानमवलोक्य सचक्रिन् ग्रीड मुख^४ नमयन्ती स्तम्भमभिनीय मानन्द स्मरणम्] आश्चर्यं, कय फलितांअपि मे अमनोवृत्तिसम्भावनीयो मनोरथद्रुम । (अम्महे, कय फलिदोवि मे अमणवृत्तिसम्भावणिजो^५ मणोरथद्रुमो ।)

राजा—[सहर्षमुपनृत्य] प्रिये, [आत्मान निर्दिश्य] प्रिये, कयय, कयय—

अङ्गानि रोदयमि किं शिरीषकुसुमपरिपेलवानि^६ मुधा ।

राजालङ्कृता—यत्रान्तरितो राजा विराजमान आसीत् ताम् । सचक्रितग्रीडम्—आश्चर्यलज्जाम्भ्या सहितम् । स्तम्भ—निश्चलताम्, अभिनीय—नाटयित्वा ।

[इस प्रसार बहती हुई, राजा स शोभिन माधवीराजा का अँगुलियो स निर्देश करती है ।]

चन्द्रकला—जा मेरी सखी को अच्छा लगे । (जाती है)

[राजा को देख कर आश्चर्य और लज्जा से सिर नीचे किए हुए स्तम्भा (शिथिल) हो जाती है । फिर सहर्ष और स्वयं]

ओह ! क्या मेरा मनोरथवृक्ष फलित हो गया ? मैंने तो ऐसी कभी सम्भावना भी नहीं की थी ।

राजा—(सहर्ष समीप पहुँचकर) प्रिये ! कहो-कहो

शिरीष पुष्प से बोलल अपने इन बगों को यह व्यर्थ मे बनेश

१ मए इति मू० पा० नास्ति । २ चिच्चिणीअन्त मू० पा० । ३ अअ 'मुध' इति मू० पा० नास्ति । ४ अमणवृत्तिसम्भावण तजा मू० पा० । ५ शिरीषपरिपेलवानि मू० पा० ।

अयमीहितकुसुमाना सम्पादयिता तवास्ति दासजन १ ॥१६॥

सुनन्दना—[जनान्तिकम्] सखि, कथं त्वया दर्शनमात्रकेणापि^२
वशीकृतो भर्ता । (हला, कथं तए दसणमेत्तकेणावि एव वसि-
न्दो भट्टा ।)

चन्द्रकला—सखि, किमिति त्वया वितथपरिहासेन अहमुपहस्ये ।
हला, किं तए भिदधपरिहासेण अह उवहसीअदि ।)

राजा—[चन्द्रकलाया मुख निदिश्य] प्रिये, कथय, कथय,
असावन्तश्चञ्चद्विकचनवनीलाब्जयुगल-
स्तलस्फूर्जत्कम्बुविलसदलिसघात उपरि ।

शिरीषकुसुमपरिजेलवानि,—शिरीषपुष्पवन् सर्वथा सुकुमाराणि,
अङ्गानि—अवयवानि, किं—वत्सात्, मुधा—अनर्थं, खेदयसि—
पुष्पचयनेन परिश्रमयसि ? अयम्—अहं, दासजन, तव, ईहितकुसुमाना—
चेतुमिष्टानां पुष्पाणां, सम्पादयिता—चयनकर्ता अस्ति अत्र क्षेपालङ्कार
रूपगीतिच्छन्द ॥१६॥

जनान्तिकम्—एकान्ते अग्यान् वञ्चयित्वा परस्परालापा । यदुक्तं
सागरे—‘वञ्चयित्वैकमन्योऽप्य द्वाभ्या यत्सलु पठयते । जनान्तिकं तु तत्कार्यं
त्रिपताकेन पाणिना ॥’ वितथपरिहासेन—अनीकपरिहासेन । अहम् उपहस्ये—
मम उपहास परोपीत्यर्थः ।

सुमुखि—शोभनानने । अन्तश्चञ्चद्विकचनवनीलाब्जयुगल —
क्यों बे रही हो ? (स्वर्ग को दिखाकर) तुम्हारे इच्छित (रुचि के) पुष्पो
के तोड़ने के लिए तो तुम्हारा यह सेवक उपस्थित है ॥१६॥

सुनन्दना—(एकान्त मे) सखि ! केवल दर्शनमान से तुमने महाराज,
को अपने वश मे कैसे कर लिया ?

चन्द्रकला—सखि, तुम व्यर्थ मेरा उल्लास क्यों कर रही हो ?

राजा—(चन्द्रकला के मुख की ओर देख कर) प्रिये ! कहो-कहो—
हे सुमुखि ! यह श्लोकोत्तर निष्कलङ्क चन्द्रमा तुम्हें कहाँ से प्राप्त हो गया ?

१ साहित्यदर्पणे श्लोकस्य उत्तरार्धात् पूर्वम ‘आत्मान निदिश्य’ इति पाठः ।

विना दोषासङ्ग सततपरिपूर्णाखिलकल १

कुतः प्राप्तश्चन्द्रो विगलितकलङ्कः सुमुखि ते ॥१७॥

चन्द्रमा—सखि, आगच्छ आगच्छ । इत^३ इदानीं गच्छाम । देवी खलु आवामनुमरिष्यति । आश्चर्यं, कुतो गच्छन्त्या मम चरणौ न गच्छन् । (हला, आअच्छ, आअच्छ । इदो दाणी गच्छन्त्य । देवी क्व अम्मे अणुसरिम्सदि ।) [इति गच्छन्तो स्तम्भमभिनीय] अम्बो, कुदो गच्छन्ति ए मए^३ चरणा ण गच्छदि ।)

अन्नमङ्ग्यभाग चञ्चद् विलसद् विकच प्रस्फुट नव नूतन लीलाब्जयुगलं नयन-
द्वयस्य यस्य तादृश, तलस्फूर्जस्कम्बु—तले अधोदेशे स्फूर्जन् शोभमान. कम्बु
ग्रीवारूपं शङ्ख यस्य तादृश, उपरि—उपरिभागे, विलसदलिसघात—
विलसन विचरन् अलिसघातो भ्रमरसमूहो यस्य तादृश, सततपरिपूर्णा-
खिलकल—सतत परिपूर्णा अखिला कला यस्य तादृश, (तथा) विगलित-
कलङ्क—कलङ्कशून्य, असौ मुखे उपचन्द्र, दोषासङ्ग—रात्रिस्तम्भकं
विनापि, ते—तव समीपे, कुत, प्राप्त—उपस्थित ? अन उपमाजलङ्कार,
शिक्षरिणीच्छन्दः । १७ ॥

अनुसरिष्यति—पश्चादागमिष्यति । चरणौ न गच्छन्—पादौ न चलत ।

जिसमें दो विकसित नील कमल शोभित हो रहे हैं, । चन्द्रमा के तल भाग में
शङ्ख अपनी छवि बिखेर रहा है, और ऊपर भ्रमरावलि नीटा कर रही है ।
तथा जो विना रात्रि के ही समस्त कलाओं से पूर्ण होकर उदय हुआ है ॥ १७॥
(कवि ने चन्द्रकला के मुख की समानता निष्कलरु चन्द्रमा से, नेत्रों की नील
कमल से, ग्रीवा की शङ्ख से, और केशों की नेत्र-कमल पर बिखरे भ्रमरावलि से
दी है ।)

चन्द्रकला—सखि । आओ, आओ हम दोनों भी इस स्थान से चलें ।
महारानी हमारा अनुगमन करेंगी (हम दोनों की खोज करायेंगी) [ऐसा
बहककर चलती है और स्तम्भित होने का बहाना करने लगती है] बड़ा
आश्चर्य है, मैं जब चलना चाहती हूँ तो हमारे पैर बढ़ते नहीं ।

१ किल मू० पा० । २ इति मू० पा० । ३ गन्तए मू० पा० ।

सुनन्दना—[जनान्तिष्ठम्] हला यत्त चित्त न गच्छति^१ ।
(हला, जदो चित्त ण गच्छदि ।)

चन्द्रकला—[सस्मितम्] सखि, सर्वथा न विरमसि परिहासतः^२ ।
(हला, सव्वधा ण विरमसि परिहासादो ।)

सुनन्दना—सखि, प्रथमतोऽपि त्वया पाशककेली तव स्वहस्तोच्चे
तव्या^३ सहकारपल्लवा मल्ल धार्यन्ते^४, तदुच्चीयन्ता मेते पश्चात्पु-
नर्यथासुख गच्छातु प्रियमन्वो^५ । (हला, पतमदोवि^६ तए पासेअके-
लिए तुहि सहस्यउचिणिदव्या सहकारपल्लवा मे धारी-अन्ति । ता
उच्चिणेदु एदे । पुच्छा पुण जघासुह गच्छदु पिअसहि ।)

[चन्द्रकला तथा करोति]

राजा—[सस्पृहमालोक्य]

सस्मितम्—ईषद्धास्ययुक्त यथा स्यान् तथा । न विरमसि—न विरता भवसि ।
पाशककेली—अक्षक्रीडाया, त्वया, स्वहस्तोच्चेतव्या—निजहस्ताभ्या रोटनीया
सहकारपल्लवा—आम्रपल्लवा, मल्ल धार्यन्ते । अय नाव ग्लहे त्वमया जिता
असि । अतएव यान् सहकारपल्लवान् त्व मल्ल धारयसि तान उच्चीय पूर्व दहि
ततो यथेच्छ याहि । अत्र 'धारयत्तमर्ण' इति सूत्रेण चतुर्थी ।

सुनन्दना—(एकान्त मे) इसलिए कि चित्त यहा स नही हन्ता ।

चन्द्रकला—(मुसकरा कर) तुम परिहास करना नही छोडती हो ।

सुनन्दना—सखि ! तुम्हारे ऊपर जो हमारे आम्रपल्लव तोडने शेष है,
(जो तुम हमारे आम्रपल्लव तोडना धारण करती हो) पहले अपने हाथ
से उन्हे तोडकर मेरा ऋण चुका दो (मुझसे निवृत्त हो जाओ), हे प्रिय
सखि ! उसके पश्चात् अपनी इच्छानुसार आनन्दपूर्वक जहाँ चाहो जाओ ।

(चन्द्रकला पल्लव तोडने लगती है)

राजा—[अनुराग से देखकर]

१ अय मू० पा० नास्ति । २ अयमपि मू० पा० नास्ति । ३ स्वहस्तो
चेतव्या. मू० पा० । ४ मयार्यन्ते मू० पा० । ५ तदुच्चीयतामेते मू० पा० ।
६ प्रीयसखी मू० पा० ।

चूतपल्लवचय निजकान्त्या खण्डित प्रथममेव मृगाक्षि ।

यत्कर कररुहेण पुनस्ते सगडयन्यनुचिन्तय परमेतन् ॥ १८ ॥

चन्द्रकला—[पुलकस्वेदमभिनीय सखी प्रति] सखि, गृहाणैदम् ।
अहं गच्छामि । (सहि, गेह्ण एद । अहं गच्छामि ।)

[इति गन्तुमुपक्रमते]

विदूषक—भवति, सकलानां पृथिवीसमुत्पन्नानां षडंशभागिनो राजानो भवन्ति । तस्मात् कथं त्वम् उच्चितकुसुमपल्लवानां षण्ठांशं प्रियवयस्यस्यादत्त्वा गन्तुमभिलषसि ?

(भोदि, सजलाणं पुह्वितनग्गाणं सट्टसं भाइणो राआणो होअन्ति ।
तां कथं तुम उच्चिणिदकुसुमपल्लवाणां सट्टासं पियवअस्सस्सं
अदाउणं गन्तुं अहिलसमि ?)

राजा०—हे मृगाक्षि—मृग तो चले !, यज्ञ, ते, कर—रुहे, प्रथममेव—
पूर्वमेव, निजकान्त्या—स्वच्छत्या, खण्डित—पराजित, चूतपल्लवचयम्,—
जाम्बवतवनमूह पुन—भूय, कररुहेण—नखेन, सगडयति—धिनति, एतन्,
परम्, अनुचितम् । अथ स्वायनाच्छन्दः ॥ १८ ॥

पुलकस्वेदम्—आनन्देन रोमाञ्चम् भयेन च घर्षम् । पृथिवीसमुत्पन्नानां—
पृथिव्याम उत्पन्नानि यानि वस्तूनि वेपा, षडंशभागिनः—षण्ठांशं हीतारः ।
उच्चितकुसुमपल्लवानाम्—त्रोटितानां पुष्पाणां पल्लवानां च ।

हे मृगाक्षि ! वे आम्रपल्लव तो पहले ही एक बार तुम्हारे हाथों की मृदुल
सुन्दरता से पराजित हो चुके हैं, उन्हें अब पुनः नाखूनों से काटना अत्यन्त
अनुचित है ॥ १८ ॥ (चन्द्रकला के हाथ और अमुलियाँ पल्लवों से भी
अधिक कोमल और सुन्दर हैं ।)

चन्द्रकला (आनन्दानुभव करती हुई) सखि ! ये लो इन्हें ! मैं जाती
हूँ । (जाने लगती है)

विदूषक—मगवती ! राजा, पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाली प्रत्येक वस्तु के
षण्ठांश का भागी होता है । फिर तुम तोड़े गये पुष्प और पल्लवों का षण्ठांश
मेरे प्रिय मित्र (राजा) को दिए बिना ही, क्यों जाना चाहती हो ?

सुनन्दना—सत्य भणत्यार्यः । ददस्वेदानी भर्तुर्हस्ते उच्चितकुसुम-
पल्लवानां पट्टांशम् । (सच्चं भणादि अज्जो । तदसुदाणि भट्टीणो
हथ्थे उच्चिणिदकुसुमपल्लवाणां सट्टांसं ।)

[चन्द्रकला सत्रीडमधोमुखी तिष्ठति]

सुनन्दना—सखि, सर्वतः राज्ञा पट्टशोऽपि युज्यते व्यवहार एव
एषः । तत् कुतोऽत्रापि ते लज्जा^१ । (हला, सम्बदो राआण सट्ट-
सोवि^२ जुजित्ति^३ व्यावहारोज्जेव एसो । ता कुदो एत्थ वि दे
लज्जा ।)

चन्द्रकला—यद्रोचते प्रियसख्यै । (य रोअदि पिअसहिए ।)

[इति सवैलक्ष्यं हृदयांशुकावगुण्ठितान् कुसुमपल्लवान् ददाति]

राजा—उपनयतु मे सुकृतपादपस्य परिणत फलमिदं प्रेयसि ।

आर्थ.—विदूषकः, सत्य—यथार्थं, भणति—कथयति । सत्रीडम्,—प्रीडया
लज्जया सहितं यथा स्यात् तथा । अधोमुखी—नतानना । व्यवहार.—रीति-
नियमो वा । अत्रापि—अस्मिन् विषये अवसरेऽपि वा । रोचने—प्रीतिकर
भवति । प्रियसख्यै इत्यत्र रुच्यर्थानां प्रीयमाण इति सूत्रेण चतुर्थी ।
सवैलक्ष्यं—लज्जया सहितं, हृदयांशुकावगुण्ठितान्—अश्वले रक्षितान् ।
प्रेयसि—परमप्रिये !, सुकृतपादपस्य—पुष्पवृक्षस्य, परिणतं फलं—सुपक्वं
फलम्, उपनयतु—उपहरतु ।

सुनन्दना—उचित ही कर रहे है आर्य । तोड़े गये पुष्प और पल्लवों का
पट्टांश महाराज के हाथ में दो । [चन्द्रकला लज्जा से मुख नीचे कर लेती है]

सुनन्दना—सखि ! सर्वत्र, पट्टांश पर राजा का अधिकार है और यह
एक रीति भी है । तब तुम यहाँ लज्जा क्यों कर रही हो ?

चन्द्रकला—जो प्रिय सखी को अच्छा लगे [कहती हुई वह हृदय पर
आवेष्टित वस्त्र (आंचल) में रखे हुए पुष्प और पल्लवों को दे देती है]

राजा—मेरे सुकर्म वृक्ष के पक्के इस फल को प्रदान करो प्रिये !

१ नार्यं मू० पा० । २ सट्टंसोदि मू० पा० । ३ जुजित्ति ।

[इति करो प्रसारयति]

चन्द्रकला—[कम्पमभिनयति^१ । कुसुमपल्लवा भग्नौ पतन्ति ।],

राजा—[ससम्भ्रमम्] सर्वथा अनुपेक्षणीयो महाप्रसादः^२

प्रियतमायाः ।

[इति भूमौ पतितान्^३ कुसुमपल्लवानाददाति]

विदूषकः—भो वयस्य, न खलु एषः पल्लवः । मूर्तिमान् खलु ते

प्रियतमाया अनुरागः । तदिदानीं हृदये गृहाणेदम् । (भो बभ्रस्^४,
न खलु एषो पल्लवो मूर्तिमन्तो खलु द पिबदमाए अगुराभ^५ ।
तादाणीं हिअए गेल्लएद ।)

राजा—सत्यमाह प्रियवयस्यः ।

[इति हृदये विदधाति] .

विदूषकः—[पुरोऽवलोक्य] अहो, का गति । कयमिहेदानी

ससम्भ्रमम्—अधीस्तापूर्वकं स्रष्टि यथा स्यात् तथा । प्रिय-तमाया—

प्रेमस्या, महाप्रसादः—महनी प्रसन्नता कृपा वा । सर्वथा अनुपेक्ष-णीयः—

कदापि उपेक्षा वर्तुं न योग्य । आदशानि—गृह्णाति । मूर्तिमान्—शरीर-

धारी, अनुराग—प्रेम । विदधाति—करोति ।

[दोना हाथा को फेलाना है]

चन्द्रकला—(काँपने का महाना करती है—पुष्प और सुकोमल पल्लव
पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं)

राजा—(शीघ्रता पूर्वक) प्रियतमा के इस महाप्रसाद की उपेक्षा नहीं
करनी चाहिए । (कहता हुआ भूमि पर गिरे पुष्प और सुकोमल पल्लवों को
उठा लेता है)

विदूषक—मित्र ! यह केवस पल्लव नहीं, निश्चित हो तुम्हारी प्रियतमा
का अनुराग मूर्तिमान् हो गया है । इसे हृदय से लगा लो ।

राजा—सत्य ही कर रहे हो मित्र ! (ऐसा कहकर हृदय से लगाता है)

विदूषक—(सामने देखकर) अहो ! अब क्या उपाय है ? यहाँ तो

१ कम्पमभिनयिष्य भू० पा० । २ महाप्रसाद भू० पा० । ३ पतितान् भू०

पा० । ४ ब्रह्म भू० पा० । ५ अरा भू० पा० ।

प्रियवयस्यस्य चन्द्रकलया सह रतिकलासु उद्वर्धितासु अप्रसन्ना
 अन्यस्थानसन्निवेशमसहमानापि^१ आत्मान गोपयित्वा देवीसहचारिणी
 रतिकला पुरतो दृश्यते । (अब्बो, का गदि । कध इधदाणी पिअव-
 अस्सस्स^२ चन्दअलाए सह रदिअलासु उब्बाढिदासु अप्पसण्णा^३
 अण्णा ण^४ सण्णिवेस असहमानावि अन्ताण गोवयितुअ देवी^५ सह-
 आरणी रदिअला पुरो दिमदि ।)

सुनन्दना—[विलोक्य] सखि चन्द्रकले, त्वरितम् एह्येहि । इय
 खलु देवीसहचारिणी रतिकला इह आगच्छति । तदिह माधवी-
 लतान्तरे गोपिते भवाव । (हला चन्दोअले, तुरिद एहि एहि । ईअ
 वखु देवीसहचारिणी^६ रदिअला ईध आगच्छदि । ता ईध माधवी-
 लदन्तरे गोविदे होम्ह ।)

चन्द्रकला—[सोद्वेगम्] त्वरितमेतु^७ प्रियमखि । (तुरिद एदु पिअ-
 सहि ।)

रतिकलासु—रतिप्रमसु, उद्वर्धितासु—वृद्धि गतासु, अप्रसन्ना—खिन्ना, अन्यस्थान
 सन्निवेशम्—अन्यत्र अवस्थितम्, असहमाना—अक्षममाना, देवीसहचारिणी—
 देवीसेविका, रतियला—एतन्नाम्नी, आत्मान—स्व, गोपयित्वा—अन्तरित
 कृत्वा, पुरत—अग्रे, दृश्यते—अवलोक्यते । त्वरित—शीघ्रम्, एह्येहि—
 अत्रागच्छ । माधवीलतान्तरे—माधवीलताया मध्ये, गोपिते—प्रच्छन्ते ।

महारानी की सेविका रतिकला छिपी हुई दिखायी पड़ रही है । यह चन्द्रकला
 के प्रति बहते हुए राजा के अनुराग को देखकर उससे अप्रसन्न रहती है और
 उससे लिए यह असह्य है कि राजा, महारानी से दूर और बड़ी रहें ।

सुनन्दना—(रतिकला को देखकर) सखी चन्द्रकला । शीघ्रता कर,
 आओ हम दोनों माधवीलता के पीछे छिप जायें । क्योंकि महादेवी की
 सहचारिणी सखी रतिकला इधर आ रही है ।

चन्द्रकला—(उतावली के साथ) प्रियमखी । शीघ्र आओ

- १ अन्यथानसन्निवेशमहमपि मू० पा० । २ पिअवस्सस्स मू० पा० ।
 ३ अप्पसण्डा मू० पा० । ४ अण्डट्टाण मू० पा० । ५ देवी मू० पा० ।
 ६ देवीसहचारणी मू० पा० । ७ त्वरितमतन मू० पा० ।

[इत्युभे माधवीनतान्नर प्रवेश नाटयत]

[ततः प्रविशति रतिवला]

रतिवला—कुन पुन प्रेक्षे महाराजम् । [परिक्रम्यावलोकय च]
 कथमिहैव एष । तदुपममामि । [इ पुनमृन्] जयतु जयतु महा-
 राज । देवी खलु एतावन् कालं महाराजप्रभृतिमलममाना
 सर्वान् प्रेषितममस्तरिजना पर्युमुक्ता वरंते । तदिदानीं त्वस्ति
 महाराजेन तस्या सतिहिनेन भविष्यन् । (काहे उग पेनवामि
 महाराज । कथं इध उजेन एमो । ता उपसन्नामि । जअदु जअदु
 महाराजो । देवी खलु एन्निक काल महाराजप्रभृतिमलममाना
 नवप्रदो पेषिदसमव्यपरिजणा ताज्जुअआ वडूदि । तादाणि
 तुरिद महाराएण तस्म सणीहिदेण होदव्यम् ।)

राजा—[दीर्घं नि श्वस्य स्वगतम्] हा देव ! किमत्र करणीयम् !

प्रेने—पश्यामि । परेनम्य—विनरिनिदिशा गत्वा । उपसन्नामि—समीप
 गच्छामि । देवी, महाराजप्रभृतिम—महाराजस्य सभाचारम्, अलममाना—
 वनाप्रयुक्ती, सर्वान्—सर्वदिग्, प्रेषितममस्तरिजना—प्रेषिता अन्वेषणार्थं
 प्रेरिता समन्ता सज्जना परिजना भृत्यादयो ययानादुशी, (भूत्वा)
 उत्तमिष्ठता, पर्युमुक्ता—वरंते । स्वरित—गीत महाराजेन, तस्या—देव्या,
 सतिहिनेन—समीप-वर्तिना, भवितव्यम् ।

[दाना माधवीलता की जात्र म प्रवेश करती हैं]

(हमके धाद रतिवला का प्रवेश)

रतिवला—महाराज पुन कहा दिखायी पड्यो ? (घूमकर देखती हुई)
 क्या यही है ? ता उनके निक्क चरूं । (पहुँचकर) महाराज की जय हो,
 जय हो । देवी इतनी देर से आपका न देखने का कारण अत्यन्त ही व्याकुल
 हो रही हैं । उन्होंने चारा ओर सबक सविकाया को आपकी खोज म भेज
 दिया । इसलिए महाराज की खोज हो उनके पास पहुँच जाना चाहिए
 (आप तुरन्त उनकी ओर चले) ।

राजा—(लम्बी साँस खींचकर—स्वयं) हा देव ! अब क्या करें ।

विदूषक — [अपवार्य] भो वयस्य, इदानीं खलु देवीसमागमनमेवोचितम् । पश्चात् पुनर्यथा चन्द्रकलासमागमो भवति तथा चिन्तितव्यम् । अन्यथा आयतिशुद्धो न भवत्येष ।

राजा—सत्यं सत्यम् अवितथमाह प्रियवयस्य । [प्रकाशम्] रतिकले, मया खलु नवकुसुमितामिमा माधवीलतामाकर्ण्यपरिमितविस्मयाविष्टेन त्वरितामिह प्रविष्टं केलिवनम् ।

रतिकला—देव्या. खलु एतावन्तं कालं महाराजमनवेक्षमाणायाः क्षणोऽपि युगान्तरमाचरति । (देवीए कखु एन्तिक काल महाराजमणबेवखमाणए सणोवि जुअन्तर आअरदि ।)

राजा—तद्दर्शय पन्थानं देवीसमीपगमनाय ।

अपवार्य—जनान्तिष्ठम् । देवीसमागमनम्—देव्या सह समागम । आयतिशुद्ध—परिणामे हितकर । अवितथम्—युक्तम् । आकर्ण्य—धृत्वा, अपरिमितविस्मयाविष्टेन—अपरिमितेन अत्यधिकेन विस्मयेन आश्चर्येण आविष्टेन युक्तेन, केलिवन—क्रीडोपवनम् । अनवेक्षमाणाया—अनवलोकयन्त्या, युगान्तरमाचरति—युगावधिकाल इव प्रतिभाति ।

विदूषक—मित्र ? इस समय महादेवी के पास ही जाना उचित है । उसके बाद पुनः चन्द्रकला का समागम कैसे हो, सोचा जायेगा । अन्यथा उसका परिणाम भयानक (अहितकर) होगा ।

राजा—(स्वयं) सत्य, सत्य है मित्र ! तुमने बिलकुल ठीक कहा । (प्रवृत्त) रतिकले ! नवकुसुमित माधवीलता से आकृष्ट हुआ मैं अत्यन्त आश्चर्य में पड़कर शीघ्रतापूर्वक इस केलिवन (आनन्दोपवन) में चला आया था ।

रतिकला—महादेवी तो इतनी देर तक महाराज को न देखने के कारण एन-एन क्षण एक एन युग के समान बिता रही हैं ।

राजा—तो देवी के पास पहुँचने का मार्ग दिखाओ ।

रतिकला—एतु एतु महाराज. । (एतु एतु महाराजो ।)

[राजा परिक्रामति]

विदूषक—[चन्द्रकलालङ्कृता माधवीलता दर्शयन्] भो वयस्य, इय खलु अननुभूतपरिमला^१ अनुरोदितीव त्वा गच्छन्त गलन्मकरन्दा माधवीलता । तद्वचनेनापि सम्भाव्यतामेपा । (भो वयस्स, इअ वल्लु अणण्हदपरिमला अणुरोअदिविज तुम गच्छन्त गलन्मकरन्दा माहविलदा । तावअणेयि सम्भाविअदु एसा ।)

राजा^२—सखे, भद्रम् । [इति माधवीलतामवलोक्य]

आसादयति न यावन्माधवि भवती^३ मिहैव पुन ।

निवृत्तिमेति न चेत् चित्ररथश्चापतेस्तावत् ॥१६॥

अननुभूतपरिमला—न अनुभूत परिमल सुवासो यया तादृशी, गलन्मकरन्दा—गलन् खलन् मकरन्द पुष्परस यस्या तादृशी च, इय माधवीलता, गच्छन्त, त्वाम्, अनुरोदितीव—पश्चादर्थं विमुञ्चतीव । तत्—नस्मात् वचनेनापि—वाचापि, एपा, सम्भाव्यताम्—आद्रियताम् ।

माधवि^१, यावत्, भवतीम् इहैव—अत्रैव, पुन—भूय, न आसादयति—प्राप्नोति, तावन्, चित्ररथश्चापने—राजश्चित्ररथस्य, चेत्—चित्त, निवृत्ति—शान्ति, न एति—न गच्छति । अत्र उपगीतिच्छन्द ॥१६॥

रतिकला—इधर से चलें महाराज ! इधर से ।

(महाराज चलने का नाट्य करते हैं)

विदूषक—भो मित्र ! (चन्द्रकला से शोभित माधवीलता को दिखाकर) माधवीलता जिसका परिमल अनाघ्रात रह गया, आपको आते हुए देखकर रोती हुई मकरन्द-रस को गिराने लगी । इसलिए वय मे वय वचन मे तो इने सान्त्वना दे दें । (माधवीलता से तात्पर्य, चन्द्रकला की ओर निर्देश से है)

राजा—उचित कहा मित्र ! (माधवीलता को देखकर) हे माधवी ! जब तक पुन आकर तुम्हारा सहचर नहीं बनेगा, तब तक राजा चित्ररथ का हृदय शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता ॥१६॥

[इति रतिकलानिर्दिश्यमानमार्गे विदूषकेण समं निष्क्रान्तः]

चन्द्रकला—[दीर्घं निःश्वस्य स्वगतम्] हा देव ! कथं मयि मन्दभागिन्याम् ईदृशीऽपि^१ व्यर्थवैरानुबन्ध^२ आचरित । (हा देव्य कथं मयि मन्दभाइणा^३ एदिमोवि विअथुवेराणुबन्धो आअरिदो ।)

सुनन्दना—सखि, श्रुत^४ महाराजस्य साभिप्राय वचनम् । तत् कल्य एव ते मनोरथानां सम्पादयिता महाराजः । इह स्थानमिदानीं न युज्यते । तत् पुरमेव परिशाव । (हला, मुद महाराजस्स साभिप्राय वअण । ता कलज्जेव दे मणोरथाण सम्पादयिदा महाराजो । इध द्वाण दाणि ण जुजुइ । ता पुरज्जेय पपिसम्ह ।)

[इति निष्क्रान्ता सर्वे]

इति प्रथमोऽङ्कः

रतिकलानिर्दिश्यमानमार्गे—रतिकलेया सकेत्यमाने पथि । मन्दभागिन्या—भाग्यहीनाया, व्यर्थवैरानुबन्ध—तिरयंकशत्रुतास्पर्दुराग्रह । आचरित—विहित । साभिप्राय—तात्पर्यसहित । कल्प एव—प्रभाते वा एव एव, ते, मनोरथानाम्—अभिलाषाणां सम्पादयिता—पूरयिता । इह स्थानम्—अन अवस्थिति, इदानीं, न युज्यते—नोचितम् ।

[ऐसा कहकर रतिकला द्वारा निर्देशित मार्ग पर विदूषक के साथ चलता है]

चन्द्रकला—[लगी सांस लेकर श्वस] हा देव ! क्यों तुमने मुझ मन्द-भागिनी से इस प्रकार अनुरक्त होने का आचरण करवाया ।

सुनन्दना—सखि, महाराज का अभिप्राययुक्त वचन सुना । इसलिए कल ही महाराज तुम्हारे मनोरथों को पूर्ण करेंगे । यहाँ हम दोनों का रुकना उचित नहीं है । चलो अन्त पुर में ही प्रवेश करें ।

[सभी जाते हैं]

पहला अंक समाप्त

१ ईदृशीऽपि मू० पा० । २ व्यर्थवैरानुबन्धमाचरित मू० पा० ।

३ मन्दभाइणी मू० पा० । ४ श्रुत मू० पा० ।

द्वितीयोऽङ्कः

[तत्र प्रविशति सुनन्दना विदूषकश्च]

सुनन्दना—आर्य, महन्, मम प्रियसखी चन्द्रकला तव नियोगेन अद्य निशाया सह सुनन्दनया महाराजसमागमम् अनुसरन्ती मन्तर्पणद्रुमितान्तरा (?) केलिवनदीधिवान्ते वर्तते । कथम् एतावन्त कालं विलम्बते कृतसङ्केतो भर्ता । (अञ्ज महं मम पिअमही चन्द्रअला तुह पिओएण अञ्जणीसाए' सह सुनन्दणाए महाराअममाअम अणुमरन्ति सन्दण्णर्गदुमिदान्तरा केलिवणदिहिआ अन्ते' वट्टदि । कथ एन्निक' बाल विलम्बेदि किदमकेदो भट्टा ।)

विदूषक—भवति, प्रसन्नरूपं गृहीत्वा तत्र गन्तुम् उद्देश्यमाणा (?)

नियोगेन—राज्या, निशाया—रात्री, महाराजसमागम—चित्ररथ-सङ्गमम्, अनुसरन्ती—अनुगच्छती काम्यमानानि यावत्, केलिवनदीधिवान्त-क्रीडाद्यानस्थितवाष्पा अग्ने, सन्तर्पणद्रुमितान्तरा—वृक्षाणामावरणे स्थिता वर्तते । कृतसङ्केत—कृत सङ्केतो यत्र तादृश, भर्ता—स्वामी, एतावन्त कालम्—इयत्समय, कथ, विनम्बने—विनम्ब कुत्रे ? भवति—कलराणि । प्रसन्नरूप—मुदितरूप, गृहीत्वा—संशयं तत्र—चन्द्रकलारा निकटे, गन्तुम् उद्देश्यमाणा (?) व्याकुलीभवन्

[इसके बाद सुनन्दन और विदूषक का प्रवेश]

सुनन्दना—आर्य ! मेरी प्रियसखी चन्द्रकला तुम्हारी युक्ति के अनुसार आज रात्रि में सुनन्दना के साथ महाराज के समागम की आज्ञा से केलिवन की वावली के समीप सन्तर्पण वृक्षा की ओट में स्थित है । क्या कारण है कि महाराज, सकेत देने पर भी इतन समय तक विलम्ब कर रहे हैं ?

विदूषक—भद्रे ! प्रसन्न मुद्रा में महाराज, उस स्थान पर जाने के लिए

१ इयमुक्तिं सुनन्दनाया, किन्तु सा कथं कथयेत् चन्द्रकला सुनन्दनया सह इति । अतोऽत्र वाचनं त्रुटि सम्भाव्यते । २ अहं सू० पा० । ३ अञ्जगसाए सू० पा० । ४ अन्ते सू० पा० । ५ एत्तिक सू० पा० ।

प्रियवयस्य उपायै. रुध्यमानया देव्या अग्रत अपि इति भणित ।
अद्य मया रजनीकरस्याशुना विकसन्त्या. केलिवनदीर्घिकाकुमुदिन्या.
एतेन परिणयोत्सव. सम्पादितव्य । तत्र आर्यपुत्रेण सन्निहितेन
भवितव्यमिति^१ । (भोदि, पच्छण्णरुव मेह्णअ तुत्थ गन्तु उदुवक
माणो पिअवअस्सो उवाएहि रम्भजुमाणाए देवीए अगद^२ एदि
भणिदो । अजु मए रअणीअरस्यासुणा^३ विअसतीए केलिवणदीहिआ^४
कुमुदिणीए एदिणा परिणआउसब्बो सपादिदब्बो । तत्थ अजुउत्तेण
सणीहिदेण होदव्यत्ति ।)

सुनन्दना—किमत्र प्रतिपन्न भर्ता ? (अब्बो, कि एत्थ पडिबण्ण^५
भट्टणा^६ ।)

विदूषक.— भवति, तत्र मया अतिशयितसकलमन्त्रिबुद्धिविभवेन^७

प्रियवस्य —महाराज, उपायै.—प्रयत्नै, रुध्यमानया—साक गन्तु निवार्य
माणया, देव्या—महाराज्या, अग्रत—समक्षे, इति भणित—एव कथित
(यत्), अद्य, मया, रजनीकरस्य—चन्द्रस्य, अशुना—किरणेन, विकसन्त्या
—सस्फुटन्त्या, केलिवनदीर्घिकाकुमुदिन्या —कीडोद्यानवापीकुमुदिन्या, परिण-
योत्सव—विवाहोत्सव, सम्पादितव्य—करणीय । तत्र, आर्यपुत्रेण—भर्ता
सन्निहितेन—समीपवर्तिना, भवितव्यम् ।

उतावले हो रहे थे, उस समय (कपटपूर्ण) उपायो के द्वारा (महाराज के
साथ जाने से) रोकी जाती हुई महारानी ने प्रिय मित्र से कहा—‘मैं आज
केलिवन की बावली में विकसित कुमुदिनी का चन्द्रकिरण के साथ परिण
योत्सव सम्पन्न करेंगी । वहाँ आर्यपुत्र की उपस्थिति आवश्यक है ।

सुनन्दना—तब ऐसी परिस्थिति में आपने क्या किया ?

विदूषक—भद्रे ! तब भी समस्त मंत्रियों के बुद्धि ऐश्वर्य को पराजित कर

१ अय मू० पा० नास्ति । २ व मू० पा० । ३ रताणी रताणीअरस्यागा
मू० पा० । ४ दिहीदा मू० पा० । ५ पडिबण्ण मू० पा० । ६ भट्टणी म० ।

७ बुद्धिभवेण मू० पा० ।

उपाय चिन्तित^१ एव । तदानीं त्वं देव्या समीपमेव^२ वर्तमाना चन्द्रकलासमीपगत^३ प्रियवयस्यमेवा यदि अनुसर्तुं गच्छति तदा त्वरित गत्वा निवेदयस्व एनम् । अहमपि इतो गच्छामि समीहितसम्पादनाय । (भोदि, तत्थ मए अदिसइदमकलमन्तिवुद्धिभिन्नेण उवाओ चिन्ति-
दोज्जेव । तादाणि तुम देवीए समी । ज्जेव वट्टन्नि चन्दअलास-
मिवगद पिअवअस्मम् एमा यदि अणुसरिदु गच्छदि, तदा तरिअ गदुअ
णिवेदेमु^४ एण । अहं पि इदो गच्छामि समीहितसम्पादनाय ।)

[इति निष्क्रान्तौ]

प्रवेशक

अतिशयितसकलमन्त्रियुद्धिविभवेन—अतिशयित अतिशान्तं सवलाना
मन्त्रिणा सचिनाना युद्धिविभव प्रज्ञासम्पत्तयेन तादृशेन, मया, उपाय,
चिन्तित एव—विचारित एव । तदानीं—तस्मिन् समये, एषा—देवी, अनुसर्तुम्—
अनुगन्तुम्, गच्छति, त्वरित—शीघ्र, गत्वा, निवेदयस्व—सूचय, एनम्—
प्रियवयस्यम् । समीहितसम्पादनाय—अभीष्टकार्यकरणाय । प्रवेशक—
प्रवेशयतीति प्रवेशक । पञ्चसु अर्थोपलक्षकेषु अन्यतमोज्यम् । यदुक्तं दपणे—
प्रवेशकोऽनुदात्तोत्त्या नीचपानं प्रयोजित । अङ्कद्वयान्तविज्ञेय ज्ञेय विष्कम्भके
यथा ॥' अस्य प्रवेशकस्य प्रथमाङ्केऽस्त्ये च प्रतिषध । यथा दशरूपटीकाकृत
'नाल्लुचितस्य पात्रस्य प्रवेश इवचिदिष्यते । प्रवेश सूचयेत्तस्मादनुदात्ताङ्के
प्रवेशकात् ॥'

देने बाना मैने उपाय (युक्ति) सोच ही लिया । तो तुम अब महारानी के पास ही उपस्थित रहो और देखो, कि चन्द्रकला के पास गये हुए (जाते हुए) मेरे प्रिय मित्र का वह पीछा तो नहीं करती । यदि महारानी उनका अनुगमन करें तो तुम नुरत धीरे से जाकर उन (महाराज) को बताकर सचेत कर देना । मैं भी अब यहाँ से अभीष्ट सम्पादन के लिए चल रहा हूँ ।

[दोनों चले जाते हैं]

प्रवेशक समाप्त

१ उपायश्चन एव । २ समीपे मू० पा० । ३ चन्द्रकलादेव्या समीपम् ।
मू० पा० । ४ ण्वेदेमु मू० पा० ।

[तत प्रविशति परित परिचारिकामिश्रचामरैरुपवीज्यमाना^१
राजा देवी च]

राजा—प्रिये, पश्य, पश्य—

विरहिकुलकृतान्त क्षुण्णकर्पूरकान्त
कृतयुवघृतिभङ्ग सम्भृतानङ्गरङ्ग^२ ।
गगनजलधिहस स्थाणुचूडावतस
क्षयितकुमुदतन्द्र शोभते शुभ्रचन्द्र ॥१॥

परित —चतुर्दिक्षु, परिचारिकामि —सेविकामि, चामरै —बालव्यजनै,
उपवीज्यमान ।

विरहिकुलकृतान्त —वियोगिसमूहाना कृते यमराट् (इव),
क्षुण्णकर्पूरकान्त —पिण्डकर्पूर इव मनोज्ञ, कृतयुवघृतिभङ्ग —कृत
विहित यूना घृतिभङ्ग धैर्यनाशो येन तादृश, सम्भृतानङ्गरङ्ग —सम्भृत
पोषित अनङ्गरङ्ग कामदेवमोद येन तादृश, गगनजलधिहस —आकाश-
रूपसमुद्रस्य हस (इव), स्थाणुचूडावतस —शङ्करमातालङ्कार, क्षयित-
कुमुदतन्द्र —क्षयिता विनाशिता कुमुदतन्द्रा कुमुदपुष्पस्य अस्फुटावस्था येन-
तादृश, शुभ्रचन्द्र —निमलचन्द्रमा, शोभते—राजते । अत्र मालिनी-
चन्द्र ॥१॥

• [इसके बाद चमर डुलाती हुई परिचारिकाओं से घिरे हुए राजा और
साथ में महारानी प्रवेश करती है]

राजा—प्रिये ! देखो, देखो—

विरही जनो के लिए यमराज के समान. पीसे हुए कर्पूर के सदृश कान्ति
वाला, युवको के धैर्य का भग करने वाला, कामदेव के हर्ष को बढ़ाने वाला
आकाश रूपी समुद्र का हस, शङ्कर के सलाह का आभरण और कुमुदपुष्प का
खिलाने वाला निमल चन्द्रमा शोभित हो रहा है ॥१॥

देवी—तदिदानीं त्वरतामार्यपुत्र तदस्यालोकमात्रेणापि विहसन्त्या महादीर्घिकाकुमुदिन्या एतेन परिणयो सत्र सम्पादयितुम् ।
(तादाणि तुवरदु अजुउत्तो तदस्स आलोअमेत्तकेणावि विहसन्तिए महदिहिआ कुमुदिणीए^१ एदिणा परिणउसव्व सम्पादितुम्^२ ।)

राजा—प्रिये, अद्यापि त्वयापि न मुक्तो^३ मुग्धभाव । कथं पुनरतिदवीयस क्षणदाकरस्य कुमुद्वत्या । करग्रहनिर्वर्तनमित्यपि यस्या मनसि विवेको न स्फुरति ।

देवी—आर्यपुत्र, किं मामुपहससि ? एतेन किल अमृतमयूखेन दीर्घिकाकुमुदिन्या किसलयकरे^४ स्वयमेव करोऽपितो^५ वर्तते ।

अस्य—चन्द्रस्य, आलोकमात्रेणापि—दर्शनमात्रेणापि, विहसन्त्या—विकसन्त्या, महादीर्घिकाकुमुदिन्या—महावापीस्थकुमुदिन्या, एतेन—चन्द्रेण, सह, परिणयोत्सव—विवाहोत्सव, सम्पादयितुम्—कारयितुम्, आर्यपुत्र, त्वरताम्—शीघ्रता करोतु । मुग्धभाव—मुग्धता शिशुत्वमिति यावत्, न मुक्त—न त्यक्त । अतिदवीयस—अतिदूरवर्तिन, क्षणदाकरस्य—चन्द्रस्य, कुमुद्वत्या, करग्रहनिर्वर्तनम्—पाणिग्रहणोत्सव । अमृतमयूखेन—अमृतकिरणेन—चन्द्रेण, दीर्घिकाकुमुदिन्या, किसलयकरे—नवपत्तनरूपहस्ते, स्वयमेव, कर—पाणि, अपित—दत्त ।

देवी—आर्यपुत्र ! फिर शीघ्रता करें और चलकर, केवल चन्द्रमा के दर्शनमात्र से विहंसती (खिली) हुई, बड़ी बावली की कुमुदिनी का इसके साथ विवाह करा दें ।

राजा—प्रिये ! अभि तुम्हारी मुग्धता (भोलापन) दूर नहीं हुई है । तुम्हारे हृदय में यह विवेक नहीं आ पा रहा है कि अतिदूरवर्ती चन्द्रमा के साथ कुमुदिनी का विवाह कैसे हो सकता है ।

देवी—आर्यपुत्र ! क्या उपहास कर रहे हैं ? देखिए, इसने तो आपको अमृतमयी किरणों के द्वारा, यावन्ती की कुमुदिनी के कोमल करो मे जैसे अपना हाथ ही अपित कर दिया है । मैं तो इस समय उनके परिणय के

१ कुदिणीए मू० पा० । २ सम्पादिनं मू० पा० । ३ मुक्ते मू० पा० ।

४ किसलयकरे मू० पा० । ५ करोऽपितो मू० पा० ।

तदिदानीम्^१ एतयोः परिणयार्थं तवसन्निधानमात्र^२ मया काङ्क्ष्यते^३ ।
 (अज्जउत्त, किं म उवहससि ? एदिणा किल अमिअमउहेण^४ दीहि-
 आकुमुदिणीए किलअकरे सअज्जेव करेअप्पिदो वडुदि । तादाणि
 एदाण परिणअथ्य तुह सणिघाणमेत्त मए कखीअदि ।)

राजा—तथाप्यलमस्येदानीं तव वदनाम्भोजविस्पर्धिनो दोषाक-
 रस्य परिणयोत्सवोपादानेन ।

देवी-आर्यपुत्र^५ जानामि यथा किल असत्य^६ एव ते सकलोऽपि
 मय्यनुरागबन्ध । यस्य मम एतावन्तमपि मनोरथ पूरयितुं^७ कदापि
 चित्तवृत्तिर्न^८ प्रसरति । (अज्जउत्त, जाणीमि जघा किर असच्चो-
 ज्जेव दे^९ सअलोवि मयि अणुराअवन्धो जस्स मम एत्तिक वि मणो-
 रथ पुराइदु कदावि चित्तवित्ति ण परिसरदि ।)

तत-तस्मान् इदानीम्—अधुना, एतयोः—चन्द्रकुमुदिन्यो परिणयार्थ—
 विवाहार्थं, तय-भवत, सन्निधानमात्र—सामीप्यमात्र, मया, काङ्क्ष्यते—
 वाञ्छ्यते । वदनाम्भोजविस्पर्धिन—मुखवमलस्य स्पर्धितु, दोषाकरस्य—
 चन्द्रस्य, परिणयोत्सवोपादानेन—विवाहोत्सवकरणेन । सकलोऽपि—समस्तोऽपि,
 अनुरागबन्ध—प्रेमबन्ध, मनोरथम्—अभिनाय, पूरयितुं—सकलयितुं, चित्त-
 वृत्ति न प्रसरति—मन प्रवृत्तिर्न भवतीत्यर्थः ।

अवसर पर आपकी उपस्थिति मात्र चाहती हूँ ।

राजा—तथापि, प्रिये । तुम्हारे मुखवमल से स्पर्धा करने वाले चन्द्रमा
 का विवाहोत्सव सम्पन्न करना व्यर्थ ही है ।

देवी—आर्यपुत्र । जानती हूँ मेरे प्रति आपका यह अनुराग कोरा असत्य
 है, जो आप मेरी (इस) साधारण सी इच्छा को भी पूरा नहीं करना चाहते ।

६ तदिनी मू० पा० । ७ सन्निधाय मात्र मू० पा० । ८ काक्षते मू० पा० ।

९ अमित मचिहेण मू० पा० । १ असत्यतमू० पा० । २ पूरयित मू० पा० ।

३ न इति मू० पा० नास्ति । ४ न्दे मू० पा० ।

राजा— [विचिन्त्य स्वगतम्] एकतः खलु,
व्याममण्डलमिदं समाकुले ता च^{२१}मूर्चललोचना विना ।
शीतदीधितिमयूखकैतवान्मुञ्चतीव मयि मुर्मुरं मुहुः ॥२॥

अथ च तत्र,

अत्र केलिविधिने निवसन्ती दीर्घिकाकुमुदिनीमभियान्ती^१ ।
तामिय मयि निवेशितभावा वीक्षते न पुनरित्यपि भीति^२ ॥३॥

इदं-दृश्यमान, व्याममण्डलम्—आकाशमण्डल, ता, चमूर्चल-
लोचना—मृगस्येव चञ्चलनेत्रा (चन्द्रकला), विना—अन्तरा, समाकुले—
विह्वले मयि, शीतदीधितिमयूखकैतवात्—चन्द्रकिरणच्छायात्, मुर्मुरं—
तुषाग्नि, मुहुः—असङ्कित, मुञ्चतीव—त्यजतीव । अत्र रथोद्धताच्छन्दः ॥२॥

दीर्घिकाकुमुदिनीम्—वायोस्थकुमुदिनीम्, अभियान्ती—उपगच्छन्ती,
इय—महाराज्ञी, अत्र—अस्मिन्, केलिविधिने—क्रीडाकालने, निवसन्ती—
वाम कुर्वन्ती, मयि, निवेशितभावा—केन्द्रितचित्तवृत्ति, ता—चन्द्रकला,
वीक्षते न—पश्येत् न, पुन, इत्यपि, भीति—भयम् । अत्र स्वागत-
च्छन्दः ॥३॥

राजा—[सोचवर मन म] एक ओर,

यह आकाशमण्डल हरिण की-सी चञ्चल आँखों वाली उस तरुणी के बिना
ध्याकुल भुज पर चन्द्रमा की शीनस किरणों के बहाने बार-बार मानो भूखी
की आग वरना रहा है ॥२॥

दूसरी ओर, हृदय को यह आशंका और भय लगा हुआ है कि बावली मे
खिली कुमुदिनी की ओर जाने वाली यह महारानी वहाँ केलिवन में मेरे ऊपर
अपने चित्त को केन्द्रित किये हुए स्थित उस (चन्द्रकला) को नहीं देख
न लें ॥३॥

तत्किं पुनरत्र करणीयम् ? आ, ग्रहो नाम दुरपनोद प्रायशः स्त्रीणाम् । [विचिन्त्य] तदलमिदानीमनातिनिर्वन्धेन । तावदेव तावत् । [प्रकाशम्] प्रिये, एह्येहि । अतएव सम्पादयामि दीर्घिका-कुमुदिनी^२ परिणयोत्सवम् ।

[इत्युभौ सपरिवारी केलिवनप्रवेश पथ्ये नाटयत]

[नेपथ्ये कलकल । सर्वे शृण्वन्ति । पुनर्नेपथ्ये]—

रे रे केलिवनरक्षका ! पलायध्व पलायध्वम् । इदानीं खलु—
लाङ्गूलेनाभिहत्य क्षितितलमसकृदारयन्^३ ग्रपदभ्या—

स्त्रीणां, ग्रह—दुराग्रह हठ इति यावत्, प्रायशः—बाहुल्येन दुराग्रह—
दुःखेन निराकर्तुं योग्य । अतिनिर्वन्धेन—दुराग्रहेण, अल—व्यर्थम् ।
दीर्घिकाकुमुदिनीपरिणयोत्सवम्—बापीस्यकुमुदिनीविवाहमङ्गलम् । कल
कल—कोलाहल । केलिवनरक्षका—उद्यानपाला ।

कोपाविष्ट—क्रुद्ध, (अतएव) अरुणोच्छन्नचक्षुः—अरुणे रक्तवर्णे
उच्छ्रान्ते स्फीते च चक्षुषी नेत्रे यस्य तादृशः, एष, तरक्षुः—व्याघ्रविशेषः,
लाङ्गूलेन—पुच्छेन, क्षितितल—भूमिम्, अभिहत्य—ताडयित्वा,
अग्रपदभ्या—चरणभ्याम्, असकृत्—वारं वारं दारयन्—क्षितितलमेव

तो अब क्या करना चाहिए ? आह ! स्त्री हृदय की धारणा को बदलना
कठिन है । [सोचकर] तो अब इस विषय में हठ करना उचित नहीं । और
अब वही करना चाहिए जो महारानी चाहें [प्रकट] प्रिये ! आओ, आओ ।
घलकर बावली की कुमुदिनी का परिणयोत्सव सम्पन्न करें ।

[ऐसा कहकर दोनों केलिवन में प्रवेश करते हैं]

[नेपथ्य में कोलाहल । सुनें सब ! पुनः नेपथ्य में]

अरे केलिवन के पहरेदारों ! भागो भागो । इस समय—

अपनी पूँछ को बार बार पटककर, अगले पैरों से धरती को खोदता हुआ,
बुद्ध क्षणों के लिए अपनी देह को सिकोड़कर छोटा होकर बड़ी ही तेजी

१ दुरापनोद प्रायशः मू० पा० । २ दीर्घिकाकुमुदिनी मू० पा० । ३ दारयन्
इति पाठभेदः ।

मात्मन्येवावलीय^१ द्रुतमथ गगन प्रोत्पतन विक्रमेण ।

स्फूर्जत्फुत्कारघोष^२ प्रतिदिशमखिलान् भाययन्नेष^३ जन्तून्

कोपाविष्ट प्रविष्ट प्रतिवनम्^४ स्णोच्छून^५ चक्षुस्तरक्षु ॥४॥

सर्वा—[श्रुत्वा समयम्] आर्ये भट्टिनि^६ इदमेव केलिव
प्रविष्टो दुष्टव्याघ्र । तदित पलायामहे । (अज्जो भट्टिणि, इ
ज्जेव केलिवण पविट्ठो दु वग्घो । ताइदो पलाइअम्ह ।)

देवी—मात ! कय व्याघ्र ! (अन्वो, कय वग्घो !)

[इति राजानमालिङ्गति]

विलिखन्, आत्मन्येव अवलीय—सङ्कुचितदेहो भूत्वेत्यर्थं अय अनन्त
विक्रमेण—शक्त्या, द्रुत—शीघ्र, गगनम्—आकाशम्, प्रोत्पतन्—
उद्गच्छन्, स्फूर्जन—वर्धमान, फुत्कारघोष—फुत्कारशब्दो यस्य तादृश
प्रतिदिश—सर्वांशु दिक्षु, अखिलान्—समस्तान्, जन्तून्—द्यागकुक्कुराणि
प्राणिगणान्, भाययन्—भयभीतान् कुर्वन्, प्रतिवन—वने वने, प्रविष्ट
अन स्रग्धराच्छन्द, स्वभावोक्तिरलङ्कार ॥४॥

से आकाश की ओर उछलकर गर्जन के साथ धूँधूँ का घोष करा
हुआ, चारों ओर वन के समस्त जीव-जन्तुओं को डराता हुआ बड़
बड़ी साल वर्ष की सी आँखें नचाता जैसे क्रोध में भरा हो, यह लकड़वा
(बघेरा) वन के एक छोर से दूसरे छोर की ओर बढ़ता हुआ घुस
चला आ रहा है ॥४॥

सभी—[भय के साथ मुनकर] आर्य स्वामिनी ! यह दुष्ट बाघ इस
केलिवन में घुस आया । चलो, यहाँ से भाग चलें ।

देवी—माँ ! कैसा बाघ ?

[यह कहकर राजा से पिपट जाती है]

१ वलिय मू० पा० । २ स्फुटफुत्कारघार मू० पा० । ३ द्रावयन्नेष इति
पाठान्तरम् । ४ प्रतिवल इति पाठभेद । ५ लूनचक्षुस्तरक्ष् मू० पा०
६ मात मणिनी मू० पा० ।

राजा—प्रिये, न भेतव्य न भेतव्यम् । अमुना खलूपकृतो-
ऽहम्^१ याचितभवदीयसरम्भनिर्भरपरिरम्भनिर्भिन्नपुलकाङ्कुरस्तरक्षुणा
दुष्टेन ।

[प्रविश्यापटीक्षेपेण सम्भ्रान्त शवरः । राजान प्रति दूरतः
सप्रणामम्]

शवरः—जयतु जयतु भट्टारकः^२ । एष खलु कुनोऽपि केलिवन
प्रविष्ट इतस्ततः कुरङ्गयूथविद्रावकः दृष्टिदिगन्तभयङ्कर दुष्टतर-
क्षुवटुक । तदिदानीं भर्त्रानुज्ञात^३ मारयितुमिच्छन्ति केलिवनरक्षका
वनचरा । (जेदु जेदु^४ भट्टालके । एसो कतु कुदोवि केलिवण पविट्टो
इदो तदो कुलङ्गजुघविज्जावसके दिट्ठिदिगन्तभयकुले दुट्ठतलक्षु-
वडुको^५ । तादाणि भट्टालकेण आणत्ता त मालइदु इच्छन्ति केलिवणर-
क्षका वणचला ।)

अयाचितभवदीयसरम्भनिर्भरपरिरम्भनिर्भिन्नपुलकाङ्कुर — अयाचिनेन
स्वतः प्राप्तौ न भवदीयेन स्वदीयेन सरम्भनिर्भरपरिरम्भेण गाढालिङ्गनेन
निर्भिन्न उद्गम पुलकाङ्कुर रोमाञ्चः यस्य तादृशः अहम्, अमुना—तरक्षुणा,
उपकृत । सम्भ्रान्त — व्याकुल । भट्टारक — देव । कुरङ्गयूथविद्रावक —
मृगवृन्दघर्षक ।

राजा—प्रिय ! न डरो, न डरो । इस बाघ ने तो मेरा बड़ा उपकार
किया । क्योंकि इसी के कारण तुम्हारे गाढालिङ्गन के अयाचित आनन्द की
प्राप्ति हो गई ।

[परदे को हटाकर हटबडाता हुआ शवर प्रवेश करता है । दूर से ही
राजा को प्रणाम करने]

शवर—महाराज की जय हो । जय हो । । दश दिशाओं में भय व्याप्त
करने वाले इस दुष्ट बाघ ने वही से इस केलिवन में घुसकर हरिण-समूहा को
तितर बितर कर डाला है । इसलिए केलिवन के रक्षकगण, इसे मारने के
लिए आपकी आज्ञा चाहते हैं

१ खलु प्रवृत्तोज्ज मू० पा० । २ भट्टारक. मू० पा० । ३ भर्ता अनुज्ञान
मू० पा० । ४ जेदु २ मू० पा० । ५ तरलवडुके मू० पा० ।

राजा—[श्रुत्वा सकौतुकम्] वनपाल ! केलिजनमृगवृन्दविद्रा-
वकोऽपि^१ तिष्ठतु क्षणमय तरक्षु । वयमिदानीं खलु तदालोकनकु-
तूहलिनो वर्तमहे ।

देवी—[सभयम्] आर्यपुत्र ! एनैमारयित्वा इत आनीतोऽपि
प्रेक्षितव्य^२ एष । अल ते तत्र गमनपरिश्रमेण । (अञ्जउत्त ।
एदेहि मारिअ इध आणिदोवि पेक्खिदब्बो एसो । अल दे तथ्य
गमणपलिस्समेण ।)

राजा—प्रिये, न भेतव्य, न भेतव्यम् ।

आत्मबाहुवलनिजिताखिलक्षोणिमण्डलसमिद्धतेजसा ।

ईदृशेषु शशिवशजन्मनामस्ति कैव गणना तरक्षुषु ॥५॥

आत्मबाहुवलनिजिताखिलक्षोणिमण्डलसमिद्धतेजसा—स्वभुजप्रतापा-
जितनिखिलभूमण्डलेन समिद्ध प्रदीप्त तेजो येषां तथामूतानां, शशिवश-
जन्मना—चन्द्रवशीनायाम्, (कृते) ईदृशेषु, तरक्षुषु—व्याघ्रेषु, गणना,
एव, का ? न कापीत्यर्थ । अत्र रथोद्धताच्छन्द ॥५॥

राजा—[सुतकर कौतुकपूर्वक] वनरक्षक ! यद्यपि इसने केलिवन के
मृगयूथों को भय के कारण तितर-बितर कर दिया है, तथापि कुछ क्षणों के
लिए अभी इसे मत मारो । हम इसे देखने का कुतूहल हो रहा है ।

देवी—[भयभीत होकर] आर्य ! हम लकड़बग्घे को उन लोगों के
द्वारा मारकर लाये जाने पर भी हम लाग देख सक्ने हैं । आरका वहाँ जाने
की कोई आवश्यकता नहीं है ।

राजा—प्रिये ! डरो नहीं, डरो नहीं—

अपने बाहुवल से समस्त भूमण्डल को जीतकर प्रज्ज्वलित प्रताप वाले हम
चन्द्रवशी धोरो के सामने इस लकड़बग्घे की कौन-सी गिनती है ? ॥५॥

त्वमिदानीं सपरिवाराज्जन्तः पुरमेव प्रविश^१ । क्षणेनैव निहततर-
क्षुक्षयमानयिध्ये^२ भवतीम् ।

[इति गन्तुमुपक्रमते]

देवी—[परिष्वज्य । सवाप्सम्] आर्यपुत्र ! यदि त्वया अवश्य
गन्तव्यं, तदा मयापि गन्तव्यम् । (अज्जउत्त ! जदि तए अवस्स
गन्तव्वं तदा मएवि गन्तव्वम् ।)

राजा—कातर्यं हि नाम स्वाभाविको धर्मः स्त्रीणाम् । तत्कथं भवत्या
तावृशस्य तरक्षोरभिमुख^३ क्षणमपि वर्तितव्यम् ! किंच^४ त्वयि सन्नि-
हिताया त्वद्वदनैकपरायणस्य ममापि प्रत्यूहो भवति तरक्षुमारणस्य ।
तदलमिदानीमत्र महीयसाभिनिवेशेन । सपरिवाराज्जन्तः पुरमेव प्रविश ।

सपरिवारा—परिजनसहिता । क्षणेनैव—किञ्चित्क्षणानन्तरमेव क्षणित्ये-
वेत्यर्थः, निहततरक्षुक्षयम्—मारितव्याघ्रावशेषम् । परिष्वज्य—आलिङ्ग्य ।
कातर्यं—भीरुत्वं । अभिमुख—सम्मुखम् । सन्निहिताया—नमीपस्थिताया,
त्वद्वदनैकपरायणस्य—त्वन्मुखावलोकनासक्तस्य, प्रत्यूहः—विघ्नः । महीयसा—
अत्यधिकेन, अभिनिवेशेन—आग्रहेण ।

सम्प्रति तुम सपरिवार अन्तः पुर मे जाओ । क्षण मात्र मे मैं इलकडबग्घे
का बध करके उसके अवशेष लेकर तुम्हारे पास उपस्थित कर देता हूँ ।
[ऐसा कहकर वह जाने लगता है]

देवी—[आँखों में आँसू भरकर] यदि आप जाएँगे ही तो मैं भी आपके
साथ चलेगी ।

राजा—भीरुता स्त्रियों का स्वाभाविक धर्म है । तुम कैसे क्षणमात्र भी
उस लकडबग्घे के सामने रुक सकती हो ? (नहीं रुक सकती हो) । इतना ही
नहीं, यदि तुम उसके पास रहोगी तो उसको मारने में भी मुझे बाधा पड़ेगी ।
क्योंकि मेरा ध्यान तुम्हारे मुख पर ही लगा रहेगा । इसलिए अब इस ओर
अधिक आग्रह उचित नहीं है । अपनी परिचारिकाओं के साथ तुम अन्तः पुर
को ही प्रस्थान करो ।

१ प्रविश्य मू० पा० । २ क्षय आनयिध्ये मू० पा० । ३.....मुख मू०
पा० । ४ किंच मू० पा० ।

देवी—[सवाष्पम्] प्रतिहतममङ्गल^१ भवतु आर्यपुत्रस्य ।
(पडिहदममङ्गल भोदु अञ्जतस्म ।)

[इति राजानमालोक्यन्ती सपरिवारा निष्क्रान्ता]

राजा—वनपाल ! तद्दर्शय कुनस्तरक्षु ।

शबर—एतु एतु स्वामी^२ । (एदु, एदु^३ सामिके ।)

[राजा परिक्रामति]

शबर—पश्यतु पश्यतु स्वामी । एष सम्मारित^४ कुरङ्गवधिरान्त-
जालकरालितनखरो दृष्टिदिगन्नमङ्कुरस्तरक्षुवटुक । (पेक्खदु,
पेक्खदु^५ सामिके । एस समालिदकुलङ्गलुधिलअन्तजालकलालिदग-
हलो^६ दिठ्ठिदिगन्नमङ्कुरो तलखलु वडुको ।)

अमङ्गलम्—अकल्याणम्, प्रतिहत-विनष्टम् । सम्मारितकुरङ्गवधिरान्तजाल-
करालितनखर—सम्मारिता व्यापादिता य कुरङ्गा मृगा तेषा रुधिराण
शोणिनेन अन्तजालेन अन्नेण च करालिता भयानका नखरा नखा यस्य
तादृश, दृष्टिदिगन्नमङ्कुर—दृष्ट्या दिगन्तेषु दिशाम् उपे भयङ्कर
भयोत्पादक । तरक्षुवटुक—दुष्टतरक्षुरित्यर्थः ।

देवी—[आंखा म आंखू भरकर] आर्यपुत्र के लिए अभयलक्ष्म हो जायें ।

[ऐसा कहकर राजा को देवती हुई परिचारिकाओं के साथ अन्त पुर
की ओर प्रस्थान करती है]

राजा—वनपाल ! ता दिशाओ, वहाँ है लकड़वाणा ?

शबर—इधर से आएँ स्वामी इधर से ।

[राजा चलता है]

शबर—देखिए, देखिए स्वामी । यह है दुष्ट लकड़वाणा । मत्नी मांनि
मारे हुए हरिणा के रक्त से नखों को लोहित किये हुए, अन्ती मयावह दृष्टि
से दिशाओं को भी भयभीत कर रहा है ।

^१ प्रतिहतमममङ्गल मू० पा० २ स्वामिके मू० पा० । ३ एदु २ मू०
पा० । ४ सम्मारित मू० पा० । ५ पेक्खदु २ मू० पा० । ६ समालिदकुलङ्ग-
लुधिलअन्तजालिकलालिदगहलो मू० पा० ।

[इत्यङ्गुल्या निदिशति]-

गजा—[दिलोवय] आ , कथ समापि नाम केलिवने—

उदरयंक पाद विटपिपु मुहुः स्कन्धकपणात्^१

कृतव्योमाभङ्गः शकुनिकुलकोलाहलभरैः ।

परिभ्राम्यन्नुच्चैः प्रकटरसनो^२ व्यात्तवदन-

स्तरक्षुः क्रुद्धोऽथ क्षिपति मृगयूथानि परितः ॥६॥

तदिदानी, वनपाल । त्वरितमानय सगर शरासनम् ।

शबर—यदाज्ञापयति भट्टारक^३ । (ज आणवेदि भट्टालके ।)

एक, पादम्—चरणम्, उदस्य—उत्थाप्य, विटपिपु—वक्षोपु, मुहुं—
बार बार, स्कन्धकपणात्—धरणात्, शकुनिकुलकोलाहलभरै—
पक्षिसमूहकलकले, कृतव्योमाभङ्गः—कृत. विहित व्योम आकाशस्य
आभङ्ग यस्य येन तादृश पक्षिनादेराकाशमापूरयन्निवर्षं, परिभ्राम्यन्—
इस्तततो गच्छन्, उच्चैः—अतीव, प्रकटरसनः—प्रशङ्कितबिह्व, व्यात्तवदनः—
व्यात्त विस्फारित वदन मुख येन तादृश, अथ—दृश्यमान, क्रुद्धः—वृषिन्,
तरक्षु—व्याघ्र, परितः—समन्तात्, मृगयूथानि—हरिणसमूहानि,
क्षिपति—विश्रावयति । अत्र शिलरिणीच्छन्दः ॥६॥

त्वरित—भीघ्न, सगर—बाणसहित, शरासन—धनु । भट्टारक—
देव ।

[अगुप्तियो से दिग्गता है]

राजा—[देतकर] आह । यह क्या ? मेर (जैसे घोर के) भी
कीटावन में—

यह ब्रह्म सक्कबग्गा एक घेर को उठाये हुए, बार-बार अपने कपो
को वृक्षों में रगड़ रहा है, जिसमें उन पर बैठे हुए मयापुर पक्षियों के
कोलाहल से आकाश भर रहा है । मुंह फेंकाकर जीम सपसपाता हुआ उड़ल-
कर चारों ओर घबबर लगाता हुआ, सब ओर हरिण-समूहों की आवाज
कर रहा है ॥६॥

इसलिए, वनपाल ! अब भीघ्न ही धनुष और बाण लामो ।

शबर—रवाभी की जैसे यज्ञ ।

१ स्कन्धकपणात् सू० पा० । २ प्रकटरसन सू० पा० । ३ भट्टारक.
सू० पा० ।

[इति निष्क्रम्य राजः शशर शरासनमुपनयति]

[राजा नाट्येन आदत्ते]

शशर—अरे दुष्टतरक्षो^१ ! क्व^२ इदानीम् ? एह्येहि । एष खलु
ग्रीतशरामनको^३ भर्ता । (अले दुष्ट तलकखु^४ ! आदाणी ईहिहि ।
मो कखु गिहिदसलासणको^५ भट्टालको^६ ।)

[तरक्षुः सधुक्त्तारमभिविक्रम्य सहितबाणशरासनं राजानम-
नोक्य पलायते । राजा शवरानुगतो धावति]

तरक्षुः—[सर्वतः केलिवनं विजयमालोक्य] एषोऽस्मि रसालकः
वृत्तः । (एस्सोस्मि रसालओ सवुत्तो ।)

[इति व्याघ्रभूमिका परित्यज्य विद्रूपकरूपस्तिष्ठति]

नयति—समीपं प्रापयति । आदत्ते—गृह्णाति । गृहीतशरासनकः—गृहीतम्
इदं शरासनकं धनुः येन तथामृतः । सधुक्त्तारः—सधर्जनम्, अभिविक्रम्य—
रेकम्य, सहितबाणशरासनः—सधानीकृतबाणेन युक्तं शरासनं यस्य तादृशं,
जानम् । शवरानुगतः—शवरेण अनुसृतः । विजयम्—एका-तम् । सवृत्तः—
तत् । व्याघ्रभूमिका—तरक्षुः कृत्रिमरूपम् ।

[यह कहकर जाता है और धनुष बाण लेकर राजा को देता है]

[राजा अभिनय के साथ ग्रहण करता है]

शशर—अरे दुष्ट लकड़बग्घा ! अब कहा हो ? इधर सामने आओ ।
मारे महाराज अब धनुष-बाण हाथो में धारण कर चुके हैं ।

[लकड़बग्घा धूँ धूँ शब्द के साथ तीव्र गर्जन करते घूमता हुआ, धनुष
तण लिये हुए राजा को देखकर भागता है । राजा उसके पीछे दौड़ता है
और शवर उसका अनुगमन करता है ।]

तरक्षु—[केलिवन को सभी धनुष्यों से रहित देखकर] लकड़बग्घे के
पंथ में यह स्वयं मैं हूँ रसालक ।

[ऐसा कहकर लकड़बग्घे का वेश बदलकर विद्रूपक के रूप में प्रकट हो
जाता है ।]

१ तरक्षुः मू० पा० । २ 'क्व' इत्यस्य प्राकृतस्य पाण्डुलिपी नास्ति ।

३ शरासनके मू० पा० । ४ सणके मू० पा० । ५ भट्टालके मू० पा० ।

राजा—[विलोक्य सहषंम्] सखे । सदृशमाचरित प्रतिज्ञातस्य प्रतिदिनमुपचीयमानस्य च सौहृदस्य । [शवर प्रति] वनपाल ! तदिदानीं भवता शिखा^१ तरक्षु मेकमानीय इहैव विशिखजालनिर्भिन्न स्थापितवता तद्घुष्यतामभितो महाराजेन निहतस्तरक्षुरिति ।

शवर—यदाज्ञापयति स्वामी । (ज आणवेदि सामिके ।)

[इति निष्क्रान्त]

राजा—सखे ! पश्य, पश्य—

सह कुमुदकदम्ब^२ काममुत्सासयन्त

सह घनतिमिरोधेयं^३मुत्सादयन्त ।

सदृश—योग्यम्, आचरितम्—अनुष्ठितम्,—उपचीयमानस्य—वर्धमानस्य, सौहृदस्य—वन्धत्वस्य । शिखातरक्षुम्—प्रत्यरनिमित्त तरक्षुम् । विशिखजाल-निर्भिन्नम्—बाजं विद्धम्, अभित—चतुर्दिश, घुष्यताम्—घोषणा प्रियताम् ।

कुमुदकदम्ब—कंदसमूह, सह—साक, याम—कदम्बम्, उत्सासयन्त—प्रवाशयन्त, घनतिमिरोधं—घना निविडा ये तिमिरोपा अन्धकारसमूहा तं, सह, धेयं—चित्तस्थिरताम्, उत्सादयन्त—नाशयन्त, सरसिजपण्डं—पद्मसमूह, सह, स्वान्त—चितम्, आमीलयन्त—कामवेगेन समोचयन्त अमृताणो—चन्द्रस्य, अश्व—विरणा, प्रतिदिश—सर्वासु दिशः,

राजा—[देखकर हर्ष के साथ] मित्र ! प्रति दिन बढ़ने वाली मित्रता की प्रतिज्ञा के अनुरूप तुमने किया । [शवर से] वनपाल ! अब तुम परमपरा एक सवदव या साकर यही परमाणो उसके टुकड़े टुकड़े कर डालो और सबत्र घोषणा कर दो कि महाराज ने सकदवर्षों को मार डाला ।

शव०—महाराज की जैसी आज्ञा ।

[ऐसा कहकर चला जाता है]

राजा—मित्र ! देखो, देखो—

कुमुदपुलों के साथ कामाशक्ति की जगाती हुई, मिटते हुए अन्धकार समूह व साथ (युवक-जनो के) धैर्य की तोहती हुई, वसन्त-

१ शिखातरक्षु मेकमानीय मू० पा० । २ दय सरसिजपण्डाया पाण्डुतिप नागति । ३ उत्सादयन्त इति पाठांतरम् ।

सह सरसिजपण्डं म्वान्तमामीलयन्त

प्रतिदिशममृताशोरशव^१ सञ्चरन्ति ॥७॥

विदूषक—भो वयस्य ! ममापि शृणु कवित्वम्—

एष शशधरविम्बो दृश्यते हैयङ्गवीनपिण्ड इव ।

एते अस्य मयूखा पतन्ति आशासु^२ दुग्धधारा इव ॥८॥

(एसो ससहरविम्बो दीसइ हेअङ्गवीण^३ पिण्डोव्व ।

एवे अस्स मउहा^४ पडन्ति^५ आसासु दुग्धधाराव्व^६ ॥८॥)

राजा—अहो भोजनरसिकता^७ प्रियवयस्यस्य । सखे ! तदिदानीं दर्शय कुत प्रियतमा मे चन्द्रकला^८ ।

[ततः प्रविशति मदनावस्था नाटयन्ती चन्द्रकला]

सञ्चरन्ति—प्रसरन्ति । अत्र अतिशयोक्तिपूला सहोक्तिरलङ्कार, मालिनी-
च्छन्द ॥७॥

एष, शशधरविम्ब—चन्द्रविम्ब, हैयङ्गवीनपिण्ड इव—पूर्वदिनोत्पन्न-
दुग्धनिष्पन्नघृतपिण्ड इव, दृश्यते—अवलोक्यते अस्य—चन्द्रस्य, एते,
मयूखा—किरणा, आशासु—दिक्षु, दुग्धधारा इव—क्षीरप्रवाहा इव,
पतन्ति—वर्षन्तीत्यर्थ ॥८॥

समूहा के राकोच के साथ (विरह-साप से) मेरे चित्त को सकुचित बनाती
हुई चारों ओर चन्द्रमा की किरणें फैल रही हैं ॥७॥

विदूषक—हे मित्र ! अब मेरी भी कवि कल्पना सुनो—चन्द्रमा का यह
विम्ब जैसे मक्खन का गोलाकर पिण्ड है और ये इसकी किरणें दिशाओं में
दूध की धारा सी बरस रही हैं ॥८॥

राजा—वाह रे मित्र की भोजनप्रियता !
ता अब हमारी प्रियतमा चन्द्रकला कहीं है ? दिखाओ ।

[तमी वाम-पक्षित अवस्था मे चन्द्रकला आती है]

१ शव मू० पा० । २ पतत्याशामु इति पाठान्तरम् । ३ हेअङ्गविण
मू० पा० । ४ ए ए अजस्स मोहा इति पाठभेद । ५ पडित मू० पा० ।
६ आसासुदुग्धधाराव्व पाठान्तरम् । ७ रसिकविना मू० पा० । ८ च कला
मू० पा० ।

चन्द्रकला—[दीर्घ निः श्वस्य]

यदि बद्धो^१ निबन्धस्त्वया तादृशे दुर्लभेऽर्थे ।

तत्किं हृदय खिद्यसे भुङ्क्व^२ अविचारितस्य फलम् ॥६॥

(जतिबद्धो निबद्धो तए तारिम दुल्लहे अर्थे ।

तार्कि हिअअ खिजुसि भुजमु अविआरिअस्स फलं ॥६॥)

विदूषक—एतु एतु प्रियवयस्यः । (एदु, एदु पिअवअस्सो^३ ।)

[इत्यप्रतो भूत्वा पुरस्तादवलोक्य]

भो वयस्य ! पश्य, पश्य । इत एव सा ते^४ प्रियतमा । (भो
वअस्स ! पेक्ख, पेक्ख^५ । इधज्जेव सा पिअतमा ।)

[अङ्गुल्या दशयति]

हृदय—चित्त, यदि—चेत्, त्वया, तादृशे, दुर्लभे—सुध्रापे, अर्थे—वस्तुनि,
निबन्धः—प्रेमबन्धनम्, बद्ध.—स्थोदितः, तत्—तर्हि, वि—कथं, खिद्यसे—सिध
भयति^१, अविचारितस्य—विषेकमन्तराज्जुष्टितस्य कार्यस्य, फलं—परिणामं,
भुङ्क्व—प्राप्नुहि ॥६॥

चन्द्रकला—[लंबी साँस लेकर]

हे हृदय ! यदि तुमने उस दुर्लभ जन मे अनुराग करने का तवन्त कर
लिया तो जब शोक क्यों कर रहे हो ? बिना आगा-पीछा सोचे कोई काम
करने का जो पत्त होगा है उसे भोगो ॥६॥

विदूषक—दुधर आओ, मित्र ! दुधर ।

[एगा बहकर आगे बढ़ता है और सामने देताकर]

मित्र ! देखो, देखो । यही है सुन्दारी प्रियतमा ।

[अंगुली मे दिखाता है]

१ बन्धो मू० पा० । २ भुङ्क्व मू० पा० । ३ एदु इत्येव एव मू० पा० ।

४ ते इत्यस्य प्रसिद्धस्य नाम सम्बन्धे । ५ पेक्खा २ मू० पा० ।

राजा—[विलोक्य सहर्षम्] एतद्वदनचन्द्रायलोकनेन क्षणेन क्षयमुपगतो मे सकलोऽपि हृदयसन्ताप । [पुनरवलोक्य] क पुनरय मदनशरसम्पातजनितश्चित्तसन्नापोऽस्या ?

रहितप्रियप्रयोग निरस्तराग निरुपहारमपि^१ ।

नतंयति स्तनयुगल सन्ततमन्तर्गतागत^२ श्वास ॥१०॥

किञ्च,

जरठलवलीपाण्डुकाम^३ जटालशिरोरुह

एतद्वदनचन्द्रायलोकनेन—एतस्या चन्द्रकनाया वदनचन्द्रस्य मुखचन्द्रस्य अवलोकनेन दर्शनेन, क्षय—नाशम्, उपगत—प्राप्त । मदनशरसम्पातजनित—मदनशरस्थ कामबाणस्य सम्पातेन पतनेन जनित उत्पादित ।

सन्तत—सततम्, अन्तर्गतागत—हृदय गच्छति तत्र आगच्छति च यः तादृश, श्वास—प्राणवायु, रहितप्रियप्रयोग—बलभक्तमर्दनादिवर्जित, निरस्तराग—कस्तूरीचन्दनादिलेपरहित, निरुपहारमपि—आमूषणशून्यमपि, स्तनयुगल—कुचद्वन्द्व, नतंयति—कम्पयति ॥१०॥

जरठलवलीपाण्डुकाम—जीर्णलवलीलतावत् पाण्डु तथा दुर्बल,

राजा—[देखकर प्रसन्नतापूर्वक] इसके चन्द्रानन के दर्शनमात्र से क्षणभर में मेरे हृदय का सन्ताप भट्ट हो गया । [पुनः देखकर] कामदेव के तीखे बाणों से इसका हृदय क्यों सतप्त है ?

इसके दोनों स्तना पर न तो (मृगमद की) रश्मिर पथकारी है, न चन्दन का लेप है और न हार ही यहाँ शोभित हो रहा है । उसको केवल (कामपीडा के कारण) हृदय से निरन्तर उठने वाला उच्छ्वास अपनी गति के कम्पन से नचा रहा है ॥१०॥

और भी—कस्तूरी, केशर, चन्दन आदि का लेप न लगने से रुझ बनील वाली और अधधुली आँखा वाली यह मृगनयनी अपने शरीर को, जो पुरानी पड़ी लवली लता की तरह पीना तथा दुर्बल हो गया है और

१ निरुपहारमपि मू० पा० । २ अन्तर्गतागते मू० पा० । ३ जरठलवलीपाण्डुकाम इत्यादि इति पाठान्तरम् ।

ललितनलिनीपत्रे गात्र निवेश्य मृगीदृशा ।

मुकुलितदृशा रागोद्भेद^१ प्रभित्तकपोलया

स्तिमितमनसा धन्य प्रेयान् क एष विचिन्त्यते ॥११॥

विदूषक-भो वयस्य । त्वा वर्जयित्वा कोऽन्य ईदृशानुरागबन्ध
शङ्कितव्य एतस्या । न खलु कुसुमित सहकार वर्जयित्वा कलकण्ठी
अन्यम् अभिलपति । न वा चन्द्र वर्जयित्वा चन्द्रिकाया अन्यत
प्रसार । (भो वयस्स । तुम वज्जिअ को अण्णो हरिसाणुराअणि-
बन्धण सकिदब्बो एदाए । ण खलु कुसुमिद सहआर वज्जिअ कल-
कण्ठी अण्ण अहिलसदि । ण वा चन्द वज्जिअ चन्दिआए अण्णदो
पसारो ।)

जटालशिरोरुहम्—अस्तव्यस्तकेश, गात्र—शरीर, ललितनलिनीपत्रे
सुन्दरकमलिनीदले, निवेश्य—स्थापयित्वा, मुकुलितदृशा—निमीलितनेत्रया,
रागोद्भेदप्रभित्तकपोलया—कुङ्कुमादिसेवाभावादशोभितकपोलवत्या, (अनया)
मृगीदृशा—हरिणाक्ष्या, स्तिमितमनसा—क एष, धन्य—भाग्यशाली,
प्रेयान्—अतिप्रिय, विचिन्त्यते—ध्यायते । अत्र हरिणीच्यद ॥११॥

वर्जयित्वा—त्यक्त्वा, ईदृशानुरागबन्ध—ईदृश अनुरागबन्ध प्रेमबन्धन
यस्मिन् तादृश । कुसुमित—पुष्पित, सहकारम् आश्रयवृक्ष, कलकण्ठी—
कोकिला, अभिलपति—वाग्दति । चन्द्रिकाया—बोमुत्ता, प्रसार—गमनम् ।

जिसके बाल उरझकर जटा बन गये हैं, कमल के कोमल पत्रों की शय्या पर
लिटाकर पीछित मन से किस भाग्यशाली प्रियतम का चिन्तन कर
रही है ? ॥११॥

विदूषक—मित्र । तुम्हारे अतिरिक्त और कौन है, जो इससे अनुरागबन्ध
हो सकता है ? क्या संभव है कि कोयल पुष्पित आश्रय वृक्ष का छोर पर अथवा पृथ
की अभिजापा करे ? चन्द्रमा के अतिरिक्त क्या अथवा चन्द्रिका का प्रसार
संभव है ? कदापि नहीं ।

राजा—तत्क्षणमत्रैव लतान्तरितौ जानीवस्तावत् ।

[इत्युभौ लतान्तरितौ पश्यत]

चन्द्रकला—[पुनर्निश्वस्य, 'जइ बद्धो' इत्यादि पठित्वा अग्रतोऽवलोक्य]—मात ! कथमिदानीम् । (अब्बो ! कथं दाणि ।)

एकत्र प्रियविरहोऽन्यत्र एष समुदितश्चन्द्र ।

घातस्योपरि घातो मय्येकत्र कृतो विधिना ॥१२॥

(एकतोऽपि विरहो अण्णतो एष समुद्भूतो चन्दो ।

घातस्स उवरि^१ घाओ मइ एकतो किदो विहिणा ॥१२

तदिदानीम् अमृतमयूखेन यथा दिक्षु पुनरपि एव किरणजालं न विस्तारयते^२, तथा विनिवेदयामि । (तादाणि अमिअमउहेण^३ जघा दुसु पुणोवि एद करजाअ^३ ण विस्तारि अदि तथा णिवेदेहि ।)

एकत्र—एकत, प्रियविरह—प्रियेण कान्तेन विरह वियोग, अन्यत्र—अन्यत, एष—अय, चन्द्र—चन्द्रमा, समुदित—सम्यक् उदय प्राप्त, विधिना—इवेन, मयि, एकत्र, घातस्य—प्रहारस्य, उपरि, घात—प्रहार, कृत—विहित ॥१२॥

अमृतमयूखेन—चन्द्रेण, किरणजाल—किरणसमूह, न विस्तारयते—न प्रसारयते, विनिवेदयामि—निवेदनं करोमि ।

राजा—तो क्षण भर सता की ओट में होकर हम दोनों सत्यता का ज्ञान करें ।

[दोनों लता की ओट से देखते हैं]

चन्द्रकला—[सँस लेकर 'यदि दुर्लभ जन मे' इत्यादि कहती हुई सामने देखकर] मात ! इस समय किस प्रकार घंघं रखूं—

एक ओर तो प्रिय का वियोग था ही, दूसरी ओर यह चन्द्रमा उदित हो गया । भाग्य एक ही समय चोट पर चोट देकर मुझे दूनी पीड़ा दे रहा है ॥१२॥

इसलिए अब मैं अमृतकिरण चन्द्रमा से प्रार्थना करूंगी कि वह किरण-जाल को दिखाआ मैं न फैलाए ।

१ विस्तारयति मू० पा० । २ अमिअमउहेण मू० पा० । ३ करजाण मू० पा० ।

[इति चन्द्र प्रति साञ्जलिबद्धम्]

त्वया सह्यते तमो गृह्यते सकलैस्ते पाद ।

वससि शिरसि पशुपते त्वं विधो स्त्रीजीवन हरसि ॥१३॥

(तए सह्रिज्जई तमो गेल्लई सबलेहिं दे पाओ ।

वससि सिरे पसुबईणो तुह विहु इथ्यी जीवण हरसि ॥१३॥

तदिदानी मेघान्तरेऽपि गोपयस्व आत्मानम् । अलमेतेन दुर्जनो-
चितेन आचरितेन । [सरोपम्,] आ, कथम् अतिदीनतया मया एव-
मभ्यर्थितोऽपि पुन पुनरपि वर्षसि मयि विपसवलित विरणजालम् ।
गोहू, जाने यत्किल बाह्यदशितप्रसादानामपि कलुषितान्तराणा स्वभाव
एव एष । (तादाणि मेहन्तरेवि गोतवसुअब्जान्ताण अलमेदिणा

त्वया—चन्द्रेण, तम—अन्धकार, सह्यते विनाश्यते, सकलै—
समस्तै (चराचरै), ते—तव, पाद—किरण, गृह्यते—घायते च, विधो—
चन्द्र ।, त्व, पशुपते—शिवस्य, शिरसि—मूर्ध्नि, वससि—निवास वरोपि,
(तहिं वष) स्त्रीजीवनम्—अवनाप्राणान्, हरसि—नाशयति ? ॥१३॥

मेघान्तरेऽपि—मेघमध्येऽपि, आत्मान—स्व, गोपयस्व—आयुः ।
दुर्जनोचितेन—दुष्टमायेन, आचरितेन—आचरणेन । सरोपम्—शोषसहितम्,
अभ्यर्थितोऽपि—प्रायितोऽपि, विपसवलित—विपातम् । विन—प्रसिद्धार्थमभ्य-
स-

[हाय जोडवर चन्द्रमा के प्रति]

हे चन्द्रमा ! तुम अन्धकार का नाश करते हो, तुम्हारे किरण रही चरण
पा पता-वनस्पति सभी स्वागत करते हैं । यहाँ तब कि तुम पशुपति शिव के
तिर पर निवास करते हो । तुम्हारी जहाँ इनकी महिमा है यहीं यह दुष्क
काम क्यों करते हो कि मुझ अवन स्त्री के प्राण से रह हो ॥१३॥

तो अब स्वयं को घादना भ दिया सो । दुर्जनो को भोति यह आपरण
धव मद कर दा । [रोष से] बड़ी दीनता के साथ मैंने तुमसे प्रार्थना
की तोभी तुमबार-बार इन विपमयी किरणों की वर्षा मेरे ऊपर कर ही
रहे हो !

कुञ्जणोददेण आअरिदेण । [सरोपम्] आ , कथ अदिदीणदाए
मए एव अब्भय्थिदोवि पुणो पुणोवि वरिससि मयि विससब्बलिद
किरणजालम् । [विचित्त्य] हु, जाणे ज किल बाहिरेदसिदप्प-
सादाण वि कलुसिदन्तराण सभावोज्जेव एसो ।)

[आकाशे अञ्जलिं वद्ध्वा]

ह हो, कुसुमायुधलीलामात्रवशीकृताशेषलोकमहाराजचित्ररथ इव
कथमतिदीनाया मयि एव निष्करुणो भूत्वा पुन पुनर्विक्षिपसि विशि-
खजालम् । (ह हो, कुसुमाओहलिलामेत्त वसाकिदासेसलोअमहाराअ
चित्तरथो विअ कथ अदिदीणाए मइ एव निष्करिणो भविअ पुणो-
पुणो विविस्ववसि^१ विसिहजालम् ।)

विदूषक—भो वयस्य ! शृणु तावत्^२ शृणु तावत्^३ । कथ न
सम्भावयसि आत्मनिर्वन्धमेतस्या अनुरागबन्धम् । (भो वयस्स,

मेतत् । बाह्यदर्शितप्रसादानाम-बाह्यत दर्शित प्रसाद प्रसन्नता यै तादृशाना,
कलुषिता तराणा-मलिनचित्तवृत्तीना (जनानाम्) । ह हो-सम्बोधनार्थकम-
व्ययमतत, कुसुमायुधलीलामात्रवशीकृताशेषलोकमहाराजचित्ररथ —कुसुमायुध
कन्दप इव लीलामात्रेण अनायासेन वशीकृत अधीनीकृत अशेषलोक सम्पूर्ण-
लोक येन तादृशो महाराज चित्ररथ, निष्करुण—निदय, विशिखजाल—
किरणसमूहम् । एतस्या—चन्द्रकलाया, आत्मनिर्वन्ध—स्वनिष्ठम्, अनुरागबन्ध-
प्रमथधन, कथ, न सम्भावयसि—न सम्मानयसि ?

[सोचकर] अच्छा मैंने समझा—कलुषित अन्त करण वालो का यह
स्वभाव ही है कि वे बाह्य रूप में ही केवल प्रसन्न होते हैं ।

[आकाश की ओर हाथों को जोड़कर]

अरे, क्यों तुम भी कामदेव की तरह लीलामात्र से सम्पूर्ण लोक को वश
में करने वाले महाराज चित्ररथ की भांति भुव असहाय पर निर्दयतापूर्वक
बाण मार रहे हो ?

विदूषक—मित्र ! सुनो । तुम इसके अनुराग को, जो तुममें अनुरक्त है,

१ विविस्ववसि मू० पा० । २ अत्र मू० पा० द्विषा नास्ति ।

सुण दाव, सुण दाव^१ । कथं ण सम्भावेसि अप्पणिबन्धणं एदाए अणु-
रावबन्धम् ।)

राजा—[सहस्रंम्] सखे, शृणु तावत्,—
एकातपत्रं^२ वसुधाधिपत्यं-^३
मैन्द्रं^४ पदं वाऽमरवृन्दवन्द्यम्,
मनोरथोऽध्यासितुमुत्सहेत

न चेद्दृशश्चारुदृशोऽनुरागः ॥१४

चन्द्रकला—[विचिन्त्य] कथमेतावन्तं कालं विलम्बते दीर्घिका-
सुनलिनीदलमृणालानि आनेतुं गता मे प्रियसखी सुनन्दना । (कथं
एत्तिकं कालं विलम्बेदि दीहिआदोणलणीदल^३ मृणालाई^४ आणीदुं
गदा मे पिअसहि सुणन्दना ।)

एकातपत्रपम्—एकच्छत्रं, वसुधाधिपत्यं—पृथ्वीसाम्राज्यं, वा—
अथवा, अमरवृन्दवन्द्यम्—देवसमूहवन्दनीयम्, ऐन्द्रं पदं—देवराज-
पदं, (मे) मनोरथः—अभिलाषः, अध्यासितुम्—उपवेष्टुं, न उत्सहेत—
न उत्साहं कुर्यात्, (चेत्) ईदृशः, चारुदृशः—शोभनाढ्याः, अनुरागः—प्रेम
(। सम्भेत्) अत्र उपजातिच्छन्दः ॥१४॥

दीर्घिकासुनलिनीदलमृणालानि—वापीतः कमलिनीपत्राणि विसानि च ।

क्यों नहीं स्वीकार करते हो ?

राजा—[हयं मे साय] मित्र ! तो फिर सुनो—क्यों नहीं स्वीकार
करते हो ?

एकछत्र पृथिवी का साम्राज्य, यहाँ तक कि देवसमूहों द्वारा बन्दित
इन्द्र-भद पर भी मेरा मनोरथ बैठना नहीं चाहता यदि ऐसी मोहक
चितवन वाली का ऐसा अनुराग प्राप्त हो सके ॥१४॥

चन्द्रकला—[सोचकर] क्या कारण है कि सरोवर से कमलिनीपत्र और
मृणाल साने के लिए गयी हुई मेरी सखी सुनन्दना इतना विलम्ब कर रही है ?

१ सुणुदाव १ मू० पा० । २ वसुधाधिपत्य मू० पा० । ३ दोणलणीदलमृणालाई
मू० पा० । ४ अत्र दीहिआमुणल्लिणिदलमृणालाई इति पाठस्तूचितः ।

[प्रविश्य सुनन्दना^१]

सुनन्दना—सखि ! एतानि नलिनीदलमृणालानि उपशमयन्तु ते हृदयसन्तापम् । (हला, एदाइ^२ नलिनीदलमृणालाई^३ उबसमावेदु दे हिअअसंवादम् ।)

चन्द्रकला—सखि ! अलमिदानीमेतैः । पुनः पुनरपि अङ्गेषु हला-हलं वर्षतोऽमुपाद्दुष्टरजनीकरात्, रक्षयितुमशरणाह^४ प्रिय-सखि ! (हला ! अलं दाणि एदेहि । । पुणो पुणोवि अङ्गेषु हलाहलं बरि-सन्तो ईमादो दुट्टरअणोअरादो रक्खिजुदु^५ असरणा अह पिअसहिण ।)

[इति मूर्च्छिता पतति]

राजा—[ससम्भ्रममुपसृत्य] प्रिये ! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि ।
तवाननसुधाधामजितः कलुषितान्तरः ।

उपशमयन्तु—शान्तं कुर्वन्तु । हलाहलं—विषम्, दुष्टरजनीकरात्—दुष्टचन्द्रात्, अशरणा—रक्षितुरहिता ।

देवि—प्रिये !, तवाननसुधाधामजितः—तव मुखचन्द्रेण पराजितः, कलुषितान्तरः—मलिनचित्तः, एषः—दृश्यमानः, रजनीकरः—चन्द्रः,

[सुनन्दना प्रवेश करके]

सुनन्दना—सखी ! ये कमलिनीपत्र और मृणाल तुम्हारे हृदय के सन्ताप को शान्त करें ।

चन्द्रकला—सखि ! अब यह सब व्यर्थ है । यह दुष्ट चन्द्रमा अपनी किरणों से बार-बार जो विष मेरे ऊपर बरसा रहा है, उससे मैं रक्षा करने में असमर्थ होकर असहाय हो गई हूँ, प्रियसखी !

[कहती हुई मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है]

राजा—[धीम्रता से समीप पहुँचकर] प्रिये ! धीरज रखो, धीरज रखो । तुम्हारे मुखचन्द्र से पराजित होने के कारण हृदय में द्वेष भर-

१ सुनन्दना मू० पा० । २ मूसाई मू० पा० । ३ करादरखे इह अशरणा मू० पा० । ४ असररक्खिजुदु मू० पा० ।

दहत्यतिशय देवि त्वाभेय रजनीकर ॥१५॥

सुनन्दना—[विलोक्य सानन्दम्] दिष्ट्या वर्धे^१ । भर्त^२ । इय^३
खलु स्वभावतः नवमालिकाकुसुमपरिपेलवा त्वत्^४ कृतविरहवेदनानि -
सहा जन्मतः प्रभृति अननुभूत^५ दुःखसागरनिमग्ना तपस्विनी मे प्रिय-
सखी चन्द्रकला प्रभवति न इदानीम् आत्मनोऽङ्गे^६ । तत्करे गृहीत्वा
उत्थापयतु^७ तावदेनाम् । (दिष्टिवा वत्सेमि । भट्टा^८ । ईअं कलु सभा-
वदो णोमालिकाकुसुमपरिपेलवा तुहकिदविरहवेदणाणीसहा जन्मतो
पहुदि अणणुभूददु खसाअरणिमग्णा तवस्सिणी मे पिअसही चन्दमला
पभवदि ण दाणिअत्तणो अङ्गेसु । ता करे गेल्लिअ उथ्थावेदिअ
दावण ।)

त्वा—भवतीम्, अतिशयम्—अत्यन्त यथा स्यात् तथा, दहति—भस्मीक-
रोति ॥१५॥

दिष्ट्या वर्धे—बढ़ो भाग्यमित्यर्थः । इय—चन्द्रकला, स्वभावतः—
प्रकृत्वा, नवमालिकाकुसुमपरिपेलवा—नवमल्लिकापुष्पवत्, कामला, त्वत्कृत-
विरहवेदनानि सहा—त्वद्वियोगवेदना सोढुमसमर्था, जन्मतः प्रभृति—जन्मा-
दारभ्य, अननुभूतदुःखसागरनिमग्ना—अननुभूतदुःखरूपे समुद्रे पतिता, तपरिप-
वति—यरावी, चन्द्रकला, आत्मनोऽङ्गेपु न प्रभवति—स्वाङ्गानि धारयितुम-
क्षमेत्यर्थः ।

कर चन्द्रमा हे देवि । तुम्हें पूरी तरह से जला रहा है ॥१५॥

सुनन्दना—[देखकर आनन्द के साथ] मैं बड़ी भाग्यशालिनी हूँ । महाराज । मेरे सखी यह चन्द्रकला, जो स्वभाव से ही नवमल्लिका व फुगुमो की भाँति कामल है, आपके वियोग-शोक को सहन करने में असमर्थ हो गई है । क्योंकि जन्म से अवतक इस प्रकार की वेदना का अनुभव उठाने कभी नहीं किया था । इस अननुभूत दुःख-सागर में निमग्न बेचारी मेरी प्रियसखी चन्द्रकला अपने अंगों पर भी अधिकार नहीं रख पा रही है । अतएव आप हाथ पकड़कर उसे उठाइए ।

१ भर्तुं मू० पा० । २ इय मू० पा० । ३ त्वत्कृतविरहवेदनानि सहा मू० पा० । ४ सदनभूत मू० पा० । ५ उत्थापय मू० पा० ।

[इति निष्क्रान्ता]

राजा—इदमेवोचितमिदानीम् । [इति करे धृत्वा चन्द्रकला-
मुत्थापयन् स्पर्शसुखमभिनीय] अहो कथमिदानीम्—

करपल्लवसङ्गेन सममेव मृगीदृश । —

निमग्नमिव मे स्वान्तमुदन्वति सुधामये ॥१६॥

[प्रविश्यापटीश्रेपेण सम्प्रान्ता सुनन्दना]

सुनन्दना—सखी चन्द्रकले ! त्वरितम् एह्येहि । इय खलु देवी
महाराज निहततरक्षुवर श्रुत्वा गृहीतार्घा सपरिवारा इत आगच्छति ।
(हला चन्दमले ! तुरिद एहि, एहि । इअ कखु देवी महाराज
गिहददरखुवर सुणिअ गिहिदअण्णा सवरिवारा इध आअच्छदि ।)

मृगीदृश—मृगनयनाया (चन्द्रकलाया), करपल्लवसङ्गेन—
विप्लववत्, कोमलहस्तस्पर्शेन, सममेव—सामेव, सुधामये—अमृतमये,
उदन्वति—समुद्रे, मे—मम, स्वान्त—हृदय, निमग्नमिव—मग्नमिव
(भाति) ॥१६॥

निहततरक्षुवरम्—निहत व्यापादित तरक्षुवर व्याघ्रश्रेष्ठो येन
तादृश, महाराज, गृहीतार्घा—गृहीत हस्ते धृत अर्घ्य पूजार्थमाहृत
पूर्वादुष्पासितमिश्रितजल मया सादृशी, सपरिवारा—परिवनसहिता ।

[बहकर चली जाती है]

राजा—इस समय यही उचिit है । [कहता हुआ हाथ पकड़कर चन्द्रकला
को उठाता है और स्पर्शजनित सुख का अभिनय करके] अहा ! कैसे इस
समय—

इस मृगनयनो के कर-पल्लव के स्पर्श के साथ ही ऐसा मालूम पड़ता
है कि मेरा हृदय मुझा के समुद्र में डूब गया है ॥१६॥

[परदा उठाकर सुनन्दना प्रवेश करती है]

सुनन्दना—प्रियसखी ! खोद्य चलो ! यह जानकर कि महाराज ने लकड़-
बाघे को मार डाला है, उन्हें सम्मान देने के लिए ये महारानी अपनी सभी
परिवारिकाओं के साथ दशरही आ रही हैं !

[सर्वाः ससम्भ्रम परिक्रामन्ति^१ चन्द्रकला कतिचित् पदानि गत्वा सोद्वेगं दोषं^२ निःश्वस्य परावृत्यैव^३ राजानमवलोकयन्ती भूमौ पतति]

मुनन्दना—[ससम्भ्रममुत्थाप्य] सखि ! त्वरितमेह्येहि ।
(हला ! तुरिदं एहि, एहि ।)

[इति निष्क्रान्ता]

राजा—[अग्रतोऽवलोक्य ससम्भ्रमम्] सखे ! इयमङ्गुलिभ्रष्टा चन्द्रकलाया मणिमुद्रिका, तदिदानीमिमामञ्चले बद्ध्वा^४ गोपयतु^५ भवान् ।

[विदूषकः तथा करोति]

[ततः प्रविशति साधंपात्रपरिवारा देवी रतिकला च]

अङ्गुलिभ्रष्टा—अङ्गुलितः च्युता, मणिमुद्रिका—मणिनिर्मिताङ्गुलीयकम् ।

[सभी घबड़ाहट के घूम जाती हैं और चन्द्रकला कुछ बदम चलकर उद्वेग से लयी सांस खींचकर, पीछे की ओर लौटती हुई, राजा की ओर दृष्टि सगाये, भूमि पर गिर पड़ती है ।]

मुनन्दना—[शीघ्रता के साथ उसे उठाकर] सखी ! शीघ्र आओ, शीघ्र ।

[बहकर चली जाती है]

राजा—[सामने देखकर उतावली में] मित्र ! यह मणिमुद्रिका चन्द्रकला की उँगली से निकलकर गिर पड़ी है । तुम उसे अपने वस्त्रावल में बाँधकर छिपाये रहो ।

[विदूषक उसी प्रकार करता है]

[इसके पश्चात् पूजन के लिए अधंपात्र तथा परिचारिकाओं को साथ लिए महारानी और रतिकला प्रवेश करती हैं]

१ परिक्रामति मू० पा० । २ परावृत्यैव मू० पा० । ३ वप्या मू० पा० ।

४ गोपयितु मू० पा० ।

देवी—सखि रतिकले ! तादृशोऽपि तरक्षुर्यमगृह प्रापित आर्य-
पुत्रेण । (हला रतिअले ! तादिसोवि तरक्खु जमघर पाविदो अज्ज-
उत्तेण ।)

रतिकला—सखि ! निरुपमधनुर्विद्यालघुकृतभीमानुजस्य तव वल्ल-
भस्य पुन कीदृश एष तरक्षु । (हला, णिरुवमधनुर्विज्जलहुकिद-
भीमाणुअस्स तुह वल्लहस्स पुणो कीदिसो एसो तरक्खु !)

देवी—चेटि माघविके ! दशेय मार्गम् आर्यपुत्रस्य समीपगमनाय ।
(हजे माघवीए ! दसेहि मग्ग अज्जउत्तस्स समीवगमणाअ^१ ।)

देवी—भट्टिणि ! यथा एष दक्षिणप्रदेशात् निरुपमो मकरन्द-
परिमल^२ आगच्छति, तथा तर्कयामि इत एव अदूरस्थिते अशोकमण्डपे
भविष्यति भर्ता । (भट्टिणि ! जघा एसो दक्खिणएदेसादो णिरुवमो
मअरन्दपरिमलो आअच्छदि तथा तर्कमेहि इधज्जेअ अदूरट्ठिदे असो
अमण्डवे भविस्सदि भट्टा ।)

यमगृहप्रापित—यमालय नीत मारित इत्यर्थ । निरुपमधनुर्विद्यालघुकृतभी-
मानुजस्य—धनुर्विद्याया लघुकृत तुच्छीकृत भीमानुज अर्जुन येन
तादृशस्य अतएव अद्वितीयस्य, तव वल्लभस्य—तव कान्तस्य । मकरन्दपरिमल—
सहकारसौरभम् ।

देवी—सखी रतिकला ! उस प्रकार का भी भयंकर लकड़बग्घा महाराज
द्वारा मार डाला गया ?

रतिकला—सखी अद्वितीय तथा धनुर्विद्या मे अर्जुन को भी मार करने वाले
तुम्हारे स्वामी के लिए यह लकड़बग्घा क्या चीज था ? कुछ नहीं ।

देवी—स्वामिनि ! जो यह अनुपम मकरन्द की सुगंध दक्षिण प्रदेश से
आ रही है, मैं सोचती हूँ कि ऊपर ही योड़ी दूर पर अशोक-मण्डप के तल
महाराज होंगे ।

देवी—तद्दर्शय मार्गम् । (ता दसेहि मग्न ।)

चेटी—एतु, एतु, भट्टिनि^१ । (एदु, एदु, भट्टिणी ।)

[इति सर्वा परिक्रामन्ति]

रतिकला—[अग्रतः पन्थान निरूप्य साशङ्कम्] सखि ! यथा इह अभिनवसुलक्षणायाः^२ कस्या इव पदपद्धतिर्दृश्यते, तथा तर्कयामि त्वा गोपयन् भर्ता कस्या अपि कामिन्या आसक्तो वर्तते । (हसा ।)
जघा इह अभिनवसुलवखेणाए का एविम पदपद्धती दीसदि तथा तवकैमि तुम गोवेत्तो भट्टा का एवि कामिणीए आसक्तो वट्टदि ।)

देवी—[सरोपमिव] सखि ! कथं त्वया ईदृशापि^३ खलवचसा अविचारितेन आचक्ष्यते^४ यया जन्मत प्रभृति अक्षुण्णतादृशानुरागस्य

पन्थान—मार्ग, निरूप्य—सम्यादृष्ट्वा, साशङ्कम्—आशङ्कया सन्देहेन सहितम् । अभिनवसुलक्षणाया—सामुद्रिकशुभलक्षणसम्पन्नाया नवयुवस्या, पदपद्धति—चरणचिह्नम् । तर्कयामि—अनुमिनोमि, कामिन्या—रमण्या (अत्र गोपत्वविवक्षया सप्तम्यर्थे पठ्यते) । खलवचसा—दुष्टवचनेन, आचक्ष्यते—वक्ष्यते, अक्षुण्णतादृशानुरागस्य—अक्षुण्ण अप्रतिहत तादृश अनुराग प्रेम यस्य तादृशस्य, अमनोवृत्तिसम्भावनीय—मनसापि एव न

देवी—तो मार्ग दिखाओ ।

चेटी—आइए, आइए स्वामिनी ।

[सभी घूम जाती हैं]

रतिकला—[आगे मार्ग को देखकर शकापूर्वक] सखी ! इधर तो किसी नवयुवती के पद-चिह्न पट रहे हैं । वह युवती अनेक शुभलक्षणा से युक्त है । मुझे शका है कि महाराज तुमसे दिखाकर उसी प्रकार की किसी सुन्दर युवती से आसक्त हो गये हैं ।

देवी—[शोक में] तुम इस प्रकार के दुर्वचन बिना सोच-विचार के

१ भर्ता मू० पा० । २ अभिनवागुलक्षणा मू० पा० । ३ ईदृशोज० मू० पा० । ४ आचक्षते मू० पा० ।

आर्यपुत्रस्यापि^१ ईदृशोऽप्यमनोवृत्तिसम्भावनीयोऽतिक्रमो मम दुर्घट
उत्पाद्यते । (हला । कथं तए ईदिसोवि खलवचसा अविशारिदेण
आचक्खीअदि । जाए जन्मदोषहुदि अवलुचिदतादिसाणुराअस्स अज्ज-
उत्तस्सवि^२ ईदिसोवि अमणोवित्तमम्भावणिज्जो अदिक्रमो मुहुदुग्घड
उप्पडिअदि ।)

माधविका—पश्यतु, पश्यतु भट्टिनी । इहैवाशोकमण्डने प्रियवयस्येन
सम किमपि किमपि^३ मन्त्रयमाणो वर्तते एव भर्ता । (पेक्खदु, पेक्खदु
भट्टिणी । ईधज्जेव असोअमण्डवे पिअवअस्सेण^४ सम किपि किपि
मन्तन्तो^५ वट्टदि एसो भट्टा ।)

[इत्यङ्गुल्या निर्दिशति]

देवी—[विलोक्य सानन्दम्] निहन्तादृशनरक्षोरेयोऽर्थं आर्य-
पुत्रस्य । (णिहदतादिसतरक्खणो एसो अगोअज्जउत्तस्स ।)

सम्भावनीय इति यावत्, अतिक्रम —उल्लंघनम्, दुर्घट —कदापि घटितु
न योग्य । मन्त्रयमाण —परामर्शं कुर्वाण ।

क्या कह रही हो ? ऐसी कल्पदायक सम्भावना, जो तुम उत्पन्न करना चाहती
हो, नितान्त असम्भव है । क्योंकि प्रारम्भ से ही महाराज का मेरे प्रति अत्यन्त ही
दुष्ट अनुराग रहा है और वह उसी प्रकार का बना हुआ है । उनके अन्दर ऐसी
मनोवृत्ति की सम्भावना मेरे हृदय में हो ही नहीं सकती ।

माधविका—देखिए स्वामिनी । देखिए—वास्तव में यही अशोक-मण्डप के
सन्ने महाराज मित्र विदूषण के साथ कुछ मन्त्रणा-धी करने हुए उपस्थित हैं ।

[कहती हुई अगुनी से सचेत करती है]

देवी—[देखकर प्रसन्ननापूर्वक] लखवग्घा के सहारा अपने पति के
लिए यह अर्घ्य है ।

१ आर्यपुत्रस्य मू० पा० । २ अज्जउत्तस्सवि मू० पा० । ३ एव एव
'किमपि' मू० पा० । ४ विअस्सेण मू० पा० । ५ मन्तो मू० पा० ।

[इति राज्ञोऽर्घ्यमुपनयति]

राजा—एह्ये हि । अत्रोपविश तावत् ।

देवी—[उपविशति]

राजा—प्रियेऽपराध्योऽस्मि भवत्याः । यतः—
भवती विनापि परितः प्रसरदमलरोहिणीरमणकिरणगणरमणीया ।
सफुल्लमल्लिकापरिमलमिलदलिकुलमधुरक्षङ्कारमुखरिताशाम् ॥१७॥
केलिवनीमिमामध्यासीन एतावन्तं कालमनयम् ।

अपराध्य.—अपराधु योग्यः अपराधीति यावत् ।

भवती—त्वा, विनापि—ऋतेऽपि, परितः—समन्तात्, प्रसरद-
मलरोहिणीरमणकिरणगणरमणीया—प्रसरद्भिः विस्तारमानुबद्धिः रोहि-
णीरमणस्य चन्द्रस्य किरणगणैः रश्मिसमूहैः रमणीया शोभनीया, सफुल्लम-
ल्लिकापरिमलमिलदलिकुलमधुरक्षङ्कारमुखरिताशा—संफुल्लतायाः विक-
सितायाः मल्लिकायाः मालत्याः परिमलेन सुगन्धेन मिलता संगन्धनाम् अलि-
कुलानां भ्रमरसमूहानां मधुरक्षङ्कारैः हृद्यगुञ्जारवैः मुखरिताः शब्दिताः आशाः
दिशः यस्या तादृशीम् ॥१७॥

इमा—दृश्यमाना, केलिवनी—क्रीडोद्यानम्, अध्यासीनः—उपविशन्, एता-
वन्तं, कालम्, अनयम्—व्यत्यापयम् अहमिति शेषः ।

[बहवर राजा को अर्घ्य देती है]

राजा—आओ, आओ । यहाँ बैठो ।

[देवी बैठती है]

राजा—प्रिये ! मैं तुम्हारा अपराधी हूँ क्योंकि—

मैंने तुम्हारे बिना ही (अकेले), चारों ओर चन्द्रमा की फैलती
हुई निर्मल किरणों से रमणीय, भली भाँति फूली हुई मल्लिका के परिमल
से सराबोर औरों के मधुर गुजार से मुखरित होती हुई दिशाओं वाले ॥१७॥
इस क्रीडा-उपवन में बैठकर इतना समय व्यतीत कर दिया ।

देवी—आर्यपुत्र ! न खलु त्वमपराध्य. किन्त्वह, यया तादृशतर-
क्षुमुख गच्छन्त त्वाम् अननुगम्य अन्त पुर प्रविष्टम् । (अञ्जउत्त !
ण वलु^१ तुम अवरद्धो किंतु अह जाए तादिसतरखुमुह गच्छन्द तुम
अणणुगदुअ अन्तेउर पविट्ठ ।)

विदूषक—निहततादृशतरक्षु प्रियवयस्य श्रुत्वा किमिति न ददाति
मे पारितोषिक देवी । (निहृदतादिसतरखलु^२ पिअवअस्स सुणिअ
किन्ति ण देदि मे पारिदोसिअ देवी ।)

देवी—गृह्णातु^३ प्रियवयस्य. । (गेहदु पिअवअस्सो ।)

[इति कण्ठतो हार विदूषकाय प्रयच्छति]

विदूषक—[हारमात्मन कण्ठे निवेश्य सहर्षम्] आश्चर्यम् !
अनेन हारेण निरुपम^४ सौभाग्यमधिगतो मे कण्ठ । तदिदानीमिमाम-
ङ्ग लीयकेन अलकरवाणि । (ही ही शो ! ईमिणा हारेण णिउपम

तादृशतरक्षुमुखम्—तादृशव्याघ्रमुखम्, अननुगम्य—अननुसृत्य अनुगमन
न कृत्वेति यावत् । पारितोषिक—पुरस्कारम् । निरुपमम्—उपमार-
हितम् अद्वितीयमिति यावत्, अधिगत—प्राप्त । अलकरवाणि—भूषयाणि ।

देवी—आप नहीं, मैं अपराधिनी हूँ, आर्यपुत्र ! जो उस लकड़वाघे के मुख
मे जाते हुए आपको छोड़कर मैं अन्त पुर को चली गई ।

विदूषक—महारानी जी ! आपने यह सुनकर भी कि मेरे प्रिय मित्र ने
उस लकड़वाघे को मार डाला, मुझे कुछ पुरस्कार नहीं दे रही हैं ।

देवी—यह लें प्रिय मित्र !

[कठहार विदूषक को देती है]

विदूषक—[हार को अपने कंठ मे डालकर प्रसन्नतापूर्वक] अहा, हा,
हा ! इस हार से तो मेरे कंठ ने अनुपम सुन्दरता को प्राप्त कर लिया । तो
अब इस अगूठो से अंगुलि को अलकृत करूँ । [कहता हुआ, वस्त्राचल से
चन्द्रकला की अगूठी निकाल कर, अपनी अंगुली मे पहन लेता है और अभि-

सोहृगमधिगदो मे कण्ठो । तादाणि ईम अङ्गुलि ईमिणा अङ्ग लि-
अएण अलकरोम्मि ।) [इति चेलाञ्चलाच्चन्द्रकलामुद्रिकामादाया-
त्मनोऽङ्ग त्या निवेश्य सगर्वंमुरो विस्तीर्य अङ्गुलि प्रसारयन् देवी-
परिवारिका प्रति] दास्या दुहितर ॥ प्रेक्षन्व मे सुन्दरम् । (दासीए
दुहिदाए । पेक्खध मे सुन्दरम् ।)

रतिकला—[विलोक्य जनान्तिकम्] सखि । पूर्वं खलु त्वय
अहमसत्यभाषिणी खलेति बहु जल्पिता । पश्य, इदानीं कस्या इदं
मङ्गुलीयकम् । (हला । पुण्व क्व तु ए अह असच्चभाषिणी खलति
बहु जल्पिता । पेक्ख. दाणि काए इदं अङ्गुलिअअ ।)

देवी—[विलोक्य साशङ्कम्] ननु चन्द्रकलाया. । (१
चन्द्रकलाए ।)

रतिकला—कोऽनापि सस्य ? (को एत्थं वि ससओ ?)

देवी—[दीर्घमुच्छ्वस्य] १ अहो । संवन्धा अविश्वसनीया ए

चेलाञ्चलात्—यस्त्रप्रान्तात्, निवेश्य—प्रवेश्य, सगर्वं—साभिमानम्, उर—प्रक्ष
विस्तीर्य—प्रसार्य, देवीपरिवारिका—देव्या परिव्रजान् ।

असत्यभाषिणी—मिथ्यावादिनी, खला—दुष्टा, बहु—अधिक यथा स्या
तथा, जल्पिता—उक्ता । अविश्वसनीया—विश्वास कर्तुं न योग्या । अनिदुर्नि

मानपूर्वकं घाती फुलावर, अगुली पंजावर दिमाता हुआ देवी की परिचाति
काओ रो] दासी की लडकियो । मेरी सुन्दरता देखो ।

रतिकला—[देखकर, अलग] सखी । इसके पहले तुमने असत्यभाषि
ओर दुष्टा कहकर मुझे डाँटा था । देखो, अब यह किनकी अगुली है ?

देवी—[देखकर शका के साथ] निश्चय ही यह चन्द्रकला की है ।

रतिकला—इसमें भी कोई शका है ।

देवी—[सभी साँस लेकर] पुरुष सदा ही अविश्वसनीय है । सखी र

पुरुषा । सखि रतिकले । त्वरितमेह्येहि^१ । क्षणमपि एतस्यातिदु-
विलसितस्यान्तिके स्थातु न युज्यते । (अहो ! सम्बधा अविस्सस-
णीआ ज्जेव पुरुसा । हला रदिअले । तुरिद एहि, एहि । खण वि
एदस्स अदिदुव्विलसिदस्स अन्तिए द्वादु ण जुज्जदि ।)

[इति सत्वरमुत्थाय गच्छन्ती^२]

राजा [ससम्भ्रममुत्थायोपसृत्य करे धृत्वा]
अमिज्ञा नैव त्व शशिमुखि विधातु मयि रूप
विना च त्वा काचिनहि मदनुरागस्य विषय ।
तथापि क्षामाङ्गि स्फुरदधरविम्ब सपदि मा-
मनामन्त्यैव त्व व्रजसि कयमित्य कयय मे ॥१८॥

प्रतिदुविलसितस्य—उच्छ्र स्वस्य, मन्तिके—समीपे, स्थातु न युज्यते—
भवस्थानमनुचितमित्यर्थं । उपसृत्य—समीप गत्वा ।

शशिमुखि—हे चन्द्रमुखि^१, मयि, रूप—शेष, विधातु—कतुं, त्व,
नैव, अमिज्ञा—ज्ञात्री च, त्वा, विना, काचित्, मदनुरागस्य—मत्प्रेम्ण,
विषय—इन्द्रियायं, नहि (वतंते), तथापि, क्षामाङ्गि—हे कृशाङ्गि^१,
त्व, माम्, अनामन्त्यैव—अपृष्टवैव, सपदि—शीघ्र, स्फुरदधरविम्ब—
स्फुरन् अधरविम्ब ओष्ठविम्बो यस्मिन् तत् यथा स्यात् तथा,—कथम्, इत्य,
व्रजसि—गच्छसि ? मे—महा, कयय—ब्रूहि । अत्र शिरस्वरिणीच्छन्दः ॥१८॥

पुरुष सदा ही अविवक्षणीय हैं । सखी रतिकला । शीघ्र आओ,
क्षण भर भी अब इस उच्छ्र स्वस के पास बैठना उचित नहीं है ।

[कहकर शीघ्रता से उठकर जाने लगती है ।]

राजा—[हृदयही से उठकर, पास जाकर रानी का हाथ पकटकर]

हे चन्द्रमुखी ! तुम मुझ पर शेष करना तो जानती ही नहीं
हो, और तुम्हारे बिना मेरे प्रेम का विषय (प्रेमपात्र) दूसरी कोई (स्त्री)
है नहीं । तो भी हे तन्वगी ! बिना मुझसे विदा लिये अधरविम्ब को फट-
काती हुई तुम इस प्रकार तुरन्त क्यों जा रही हो ? मुझे बताओ ॥१८॥

१—अत्र 'त्वरितम्' श्रु० पा० नास्ति । २—गच्छन्ति, श्रु० पा० । ।

[इति राज्ञो हस्तमुत्क्षिप्य सत्वर सपरिवारा निष्क्रान्ता]

विदूषक—[राजानमुपसृत्य] भो वयस्य ! किमिति देवी तवापि करं विक्षिप्य^१ इत्य शीघ्रगत्या चलिता ? (भो वयस्स ? किन्ति देवी तुह वि करं विस्त्रिवा इत्य सिग्धगदीए चलिदा ?)

राजा—त्वकृतेनैव ।

विदूषक—[सरोपम्] किम्पया कृतम् ? (किम्पए विद ?)

राजा—यत् परमकरणीय नास्ति ।

विदूषक—अहो^२ ! किं तत् ? (अन्वो ! किं त ?)

राजा—इदमेव चन्द्रकलाञ्जलीयकदर्शनम् ।

विदूषक—[दन्तैर्जिह्वामापीड्य] अपि तावत् कथं ता दासी-दुहितरं प्रेक्ष्य इत्यमुपगतो मां चित्तसमोह ! तदिदानीम् एतु एतु-

उत्क्षिप्य—दूरे कृत्वा, सत्वर—शीघ्र । विक्षिप्य—पृथक्पृथक्, चलिता—प्रस्थिता । अकरणीयम्—अकृतव्यम् । आपीड्य—पीडयित्वा । प्रेक्ष्य—अवलोक्य । चित्तसमोह—चित्तविह्वलता, उपगत—प्राप्त ।

[देवी राजा के हाथों को दूर हटाकर शीघ्रता से परिवारिकार्यों के सहित चली जाती है]

विदूषक—[राजा के पास पहुँचकर] हे मित्र ! क्यों देवी तुम्हारे हाथों को भी हटाकर, इस प्रकार शीघ्रतापूर्वक चली गई ?

राजा—वेवल तुम्हारे कृत्या के कारण ?

विदूषक—[क्रोध के साथ] मैं क्या किया ?

राजा—जिससे बड़कर अनुचित काम नहीं होता (वही तुमने किया है) ।

विदूषक—ओह ! वह क्या ?

राजा—यही चन्द्रकला को अड़ूठी का दिया देना ।

विदूषक—[दाँतों से जीम दबाकर] सेट है, उन दासी-पुत्रियों को देख कर पता नहीं क्यों मेरा चित्त ही पागल-सा हो गया । अरतु, प्रियमित्र ! मामो

एतु प्रियवयस्य । यथा देवी प्रसाद गच्छति^१, यथा च तव चन्द्र
पुनः समागमो भवति तथाऽहमेव सम्पादयिष्यामि । (अविदाः
ताओ दासीदुहिदाओ इत्यमुवगदो म चित्तसमोहो । तादाणि
एदु पिअवअस्सो । जघा देवो प्पसाद गच्छदी, जघा अ तुह
अलाए पुणोवि समाअमो होदि, तथा अहज्जेव सपादइस्स ।)

राजा—तत्किमधुना विधेयम् ?

विदूषक—भो वयस्य । तदिदानीं पुनस्तु देवीमेव प्रसादय
(भो बअस्स । तादाणि पुरदो देवी ज्जेव पसादेम्म ।)

[निष्क्रान्ता सर्वे]

इति द्वितीयोऽङ्कः

समागम —सम्मेलन, सम्पादयिष्यामि—निर्धन करिष्यामि । विधेय—कुर्वं

पुरतः—प्रथम, प्रसादयाव—प्रसन्ना करिष्याव ।

मैं ही अब प्रसन्न करूँगा कि देवी प्रसन्न हो जायें और चन्द्रकला से तु
समागम भी हो ।

राजा—अब क्या करना चाहिए ?

विदूषक—मित्र । सब से पहले देवी की प्रसन्न किया जाय ।

[सभी चले जाते हैं]

दूसरा अंक समाप्त

१ प्रसाद गच्छन्ति मू० पा । २ अयं मू० पा० नास्ति ।

तृतीयोऽङ्कः

[ततः प्रविशति विदूषकः]

विदूषक—हो-ही भो । अद्य खलु मया तथा वञ्चकत्वेन तथा कृतापराधेऽपि प्रियवयस्ये प्रसादं गमिता प्रकृतिसुकुमारहृदया देवी । तथा एव इदानीं चन्द्रकला अविदितदोषाया सुनन्दनाया गृहे गोपितेति कथितं मे सुनन्दनया^१ । [विचिन्त्य] तदिदानीं विरहावस्था-व्याकुलीकृतस्य प्रियवयस्यस्य एतया सङ्गमे महाभ्रमेशो लघुकृतो देव्या^२ । अपि च मन्त्रितं च मया सह सुनन्दनया अद्य निशाया चन्द्रकला प्रच्छन्नरूपा केलिवनमध्ये^३ प्रवेश्य प्रियवयस्येन समम् अस्या सङ्गमो विधीयते^४ ।

वञ्चकत्वेन—प्रतारकत्वेन कृतापराधेऽपि—कृत अपराध येन तादृशेऽपि, प्रसाद—प्रसन्नता, गमिता—प्रापिता, प्रकृतिसुकुमारहृदया—प्रकृत्या स्वभावेन सुकुमार कोमल हृदय यस्या तादृशी । अविदितदोषाया—अविदित अज्ञात दोष अपराधो यस्या तादृश्या, गोपिता—रक्षिता । विरहावस्था-व्याकुलीकृतस्य—वियोगावस्थया दुःखाकृतस्य, महाभ्रमेश—महत्कष्ट लघुकृत—अल्पीकृत । मन्त्रितम्—परामर्श कृत निशाया—रात्रौ प्रच्छन्नरूपा—गोपिताकृति, केलिवनमध्ये—क्रीडोपवने इति यावत्, प्रियवयस्येन—प्रियमित्रेण, सम—सार, सङ्गम—समागम विधीयते—क्रियते ।

[इसके बाद विदूषक प्रवेश करता है]

विदूषक—अहाहा ! आज मेरी चतुरता से, बंसा अपराध करने पर भी मेरे मित्र से स्वभावतः कोमल हृदय वाली महारानी प्रसन्न हो गई । मुझे सुनन्दना से मालूम हुआ है कि चन्द्रकला उसी के घर में छिपायी गई है और उसका यह अपराध महारानी नहीं जानती है । [सोचकर] ऐसी स्थिति में तो अब उस चन्द्रकला के वियोग से व्याकुल मेरे मित्र की आकुलता को स्वयं महारानी ने ही अल्प कर दिया । तथा सुनन्दना के साथ मैंने भग्नना भी की है कि आज

१ मयं सू० पा० नास्ति । २ देव्या मू० पा० । ३ केवल 'मध्ये' मू० पा० । ४ एषा सङ्गमयितव्या इति मू० पा० ।

तद्यदीदानीम् एन वृत्तान्तं - देवी न जानाति^१ तत्सफलो भविष्यति मे सकल.^२ प्रयासः । [विचिन्त्य] अपि तावत् एन वृत्तान्त रक्षता मया कियन्त काल जिह्वायन्त्रणा अनुभूयते । [पुरोऽवलोक्य] का एषा ? देवी परिवारिका माघविकेव दृश्यते । (ही—ही भो. ^१ अज्ज क्खु मए तथा वंचयत्तेण तथा किदापराधेवि पिअवअस्से पसाद गमिदा पउदिसुउमारहिअआ देवी । ताएव दाणि चन्दअला अबिदिददोसाए सुणन्दणाए^३ धरे गोविदत्ति कधिद मे सुणन्दणाए । [विचिन्त्य] तादागि बिरहावस्थावाउलीकिदस्स पिअवअस्सस्स एदाए सङ्गमे महकिलेसो लहूकिदो देवीए । अबिअ भन्तिद अ मए सह सुणन्दणाएअजु णिसाए चन्दअला पछन्नरूवा वेलि-विण^४ अन्तरे पबिसिअ पिअवअस्सेण सम एसा सङ्गमा विददन्ति । ताजदादाणि एद सुवुत्तन्त देवी ण आणादि ता सभलो भविस्सदि मे सअलो पआसो । [विचिन्त्य] अबिदाव एद वुत्तन्त रक्खन्तेण मए केन्तिक काल जीहाजत्तणा अणुभवोअदि^५ । [पुरोऽवलोक्य] का एसा ? देवी परिवारिआ माघविआविअ दीसदि ।)

वृत्तान्त—समाचार, सकल—सम्पूर्ण, प्रयास—प्रयत्न । जिह्वायन्त्रणा—अ-
कथनप्रयुक्त जिह्वाकण्ठम् ।

रात्रि के समय चन्द्रकला की गोपनीय ढग से केलिवन मे उपस्थित करके प्रियव-
यस्य का सगम उसके साथ करा दिया जाय । यदि यह समस्त वृत्तान्त महा-
रानी न जान पाएँ तभी मेरा प्रयास सफल हो सकेगा । [सोचकर] मैं स्वयं
इस वृत्तान्त को गुप्त रखने के लिए बित्तने समय से अपनी पवान पर नियन्त्रण
रखकर कण्ठ का अनुभव कर रहा हूँ । [सामने देखकर] यह कौन है ?
महारानी की परिवारिका माघविवा प्रतीत हो रही है ।

१ जाति मू० पा० । २ सेरल मू० पा० । ३ सुणन्दणाए मू० पा० । ४
अय मू० पा० नास्ति । ५ अणुभवोअदु मू० पा० ।

[ततः प्रविशति माधविका]

[विदूषकः विलोक्य करेण मुखमाच्छादयति^१]

माधविका—[विलोक्य] मातः ! कुतः एष बृद्धब्राह्मणो मां प्रेक्ष्य पुनः पुनर्वदनम् आच्छादयति^२ ? तत् पृच्छामि । [इत्युपसृत्य^३] आर्य ! वन्दे । (अम्भो, कुदो एसो बुद्धबम्भणो मं वेक्खिअ पुणो पुणो वदनं ढिक्कदि ? ता^४ पृच्छामि । [इत्युपसृत्य^५] अज्ज ! वन्दामि ।)

[विदूषकः पुनः करोति]

माधविका—आर्य ! किमेवं वदनम् आच्छाद्यते^६ ? (अज्ज^७ ! किमेवं वअण^८ ढिक्किकअदि^९ ?)

[विदूषकः पुनस्तथा करोति]

माधविका—[अञ्जलिं चद्ध्वा] प्रसीदतु मे आर्यः । न गोपयतु

करेण—हस्तेन, आच्छादयति—आवृणोति । प्रेक्ष्य—दृष्ट्वा, वदनम्—मुखम् । रहस्यं—गुप्तमेदं, न गोपयतु—न अन्तर्हित करोतु । गर्भदास्या—

[तव माधविका प्रवेश करती है]

[विदूषक उसे देखकर अपने हाथों से मुँह ढक सेता है]

माधविका—[देखकर] अमा ! यह बृद्ध ब्राह्मण मुझे देखकर अपना मुँह क्यों बार-बार ढक रहा है ? अच्छा, मैं पूछती हूँ । [समीप पहुँचकर] आर्य ! प्रणाम ।

[विदूषक पुनः अपना मुँह ढकता है]

माधविका—आर्य ! इस प्रकार मुँह क्यों ढक रहे हैं ?

[विदूषक पुन उसी प्रकार ढकता है]

माधविका—[हाथ जोड़कर] आर्य मुझ पर प्रसन्न हो । रहस्य न छिपाए ।

१ माच्छादयति मू० पा० । २ ढीकने मू० पा० । ३ अ मू० पा० । ४ ढीकते मू० पा० । ५ अज्ज मू० पा० । ६ वणं मू० पा० । ७ चिक्खिअदि मू० पा० ।

रहस्यम् । (पसीददु मे^१ अज्जो । ण गोवयंढु रहस्सम् ।)

विदूषक—भवतु, तत् कोऽपि न जानातु । एवमिव । (भोदु, ता कोवि ण जाणादु । एव विअ ।)

[इति कर्णं कथयति]

माधविका—[स्वगतम्] अहो, साहसो बृद्धब्राह्मणस्य । तया पुनर्गर्भदास्या सुनन्दनया कथमेव दुष्करमाचक्ष्यते ? तद्देवी निवेद्य प्रसादं लप्स्ये^२ । [प्रकाशम्] आर्यं^३ । गच्छामि^४ । स्वामिनी-नियोगम्^५ अनुचरितुम् । (अहो, साहसो बुद्धवम्भणस्स । ताए पुणगम्भदासीए सुणन्दणाए कथ एव दुष्करमाचक्षिअदि । ता देवीअ णिवेदिअ पसादं लभिस्स । अज्ज ! गच्छामि सामिणीणिओअ अणुचिदिदम् ।)

विदूषक—अहमपि इदानीं गच्छामि समीहितं सम्पादयितुम् ।
(अहपि दाणि गच्छामि समीहिदं सम्पादिदुम् ।)

जन्म^१ दास्या, दुष्कर—कठिनकृत्यम्, आचक्ष्यते—वक्ष्यते । निवेद्य—विशेष्य,
प्रसादम्—अनुग्रह, लप्स्ये—प्राप्स्यामि । स्वामिनीनियोगम्—महाराज्ञ्या-
आदेशम्, अनुचरितुम्—पालयितुम् । समीहितम्—अभिलषित, सम्पादयितुम्—
सम्पन्नं कर्तुम् ।

विदूषक—अच्छा, जन्म कोई न जाने । [बाल म कहता है—ऐसा, ऐसा]

माधविका—[अपने मन में] ओह ! इस बृद्ध ब्राह्मण का ऐसा साहस । और फिर जन्म की दासी उस सुनन्दना न बंसे यह कठिन कार्य किया ? तो मैं यह सब महादेवी को बताकर उनकी कृपा प्राप्त करूँ ? [प्रकट रूप में] आर्य ! मैं जाती हूँ । महारानी द्वारा निर्दिष्ट कार्य को पूर्ण करूँ ।

१ से मू० पा० । २ समिच्छामि मू० पा० । ३ गच्छामि मू० पा० । ४ स्वामिनी नियोग मू० पा० ।

[इति निष्क्रान्तौ]

प्रवेशक

[ततः प्रविशति मदनावस्था नाटयन्, राजा]

राजा—[सनिर्वेद दीर्घं निःश्वस्य]

आयान्तीमधिगत्य मत्परिसरं देवीं परित्यज्य मा
निर्गच्छन्त्यपि सभ्रमेण सुदतीं किञ्चित् परावृत्य सा ।
दृष्टिं यच्छति याप्युदधुकलुषामुत्थाय तावन्मया
तस्यास्तन्मुखमुन्नमय्य^१ सहसा किं नाम नोऽचुम्बितम् ॥१॥

१. मत्परिसर—मत्समीप, आयान्तीम्—आगच्छन्तीम्, देवी—राज्ञीम्,
अधिगत्य—प्राप्य मा, परित्यज्य—त्यक्त वा, निर्गच्छन्ती अपि—निःसरन्ती
अपि, सुदती—शोभनदन्ता, सा—चन्द्रकला, सभ्रमेण—सत्वर, किञ्चित्—
ईपत्, परावृत्य मदमिमुखी भूत्वा, उदधुकलुषा—नेत्रजलाविला, दृष्टिम्—
ईक्षण, यच्छति—ददाति, तावत्, मया, सहसा—अदिति, तस्या—चन्द्र-
कलाया, तन्मुखम्, उन्नमय्य—उत्थाप्य, किं, नाम, नो—नहि, चुम्बितम्—
अचुम्बि ? अत्र शार्दूलविक्रीडित छन्दः ॥१॥

[दोनो चले जाते हैं]

प्रवेशक समाप्त

[काम-पीडित अवस्था में राजा का प्रवेश]

राजा—[वेदनापूर्ण लवी साँस लेकर]

जब वह (चन्द्रकला) यह जानकर कि महारानी मेरी ओर आ रही हैं,
शीघ्रतापूर्वक जाने लगी और मुझ दत्तपत्नियों वाले अपने मुँह को घुमाकर
हृदयहीन उसने मुझ पर दृष्टि-पात किया, उस समय उसका वह मुँह अचानक
मेरे वसुपित हो उठा था । उसी समय उसका मुँह मेरे उठाकर मैंने चुम्बन क्यों
नहीं कर लिया ? ॥१॥

[स्मरणमग्निनीय] -

श्रयति मयि समीपं स्मेरवक्त्रारविन्द

स्फुरदधरपुटान्तं दर्शितं भ्रूविभेदम् ।

अलसवलिततारं किञ्चिदाकुञ्चिताक्ष

कवलयति मनो मे पक्ष्मलाक्ष्याः कटाक्षः ॥२॥

तत्पुनरवलोकयामि समदनवेदनान्धकारशमनीं प्रियतमामिमां
चन्द्रकलाम् । [विचिन्त्य]

मयि समीप—निकट, श्रयति सेवमाने (सति) स्मेरवक्त्रार-
विन्द—मन्दहास्ययुक्त मुखकमल यस्मिन्, तत्, (यथा स्यात्, तथा),
स्फुरदधरपुटान्तं—स्फुरन्, कम्पमानः अधरपुटान्त ओष्ठप्रान्तो यस्मिन्,
तत्, दर्शितं भ्रूविभेदम्—दर्शित, प्रकटित, भ्रूविभेदः भ्रूमङ्गो यस्मिन्,
तत्, अलसवलिततारम्, अलसः आलस्ययुक्त, वलितः वलियुक्तश्च तारः
अक्षः कर्णोन्तिका यस्मिन्, तत्, किञ्चिदाकुञ्चिताक्ष—किञ्चित्, ईपत्,
आकुञ्चितं कुटिलम्, अक्षि नेत्र यस्मिन्, तत्, पक्ष्मलाक्ष्याः—पक्ष्मल
सुन्दरपक्ष्मयुक्तम्, अक्षि यस्याः तथाभूतायाः मुनयनाया इत्यर्थः, कटाक्षः—
अपाङ्गदर्शनं, मे, मन.—चित्त, कवलयति—प्रासीकरोति । अत्र मालिनी-
च्छदः ॥२॥

समदनवेदनान्धकारशमनीम्—मदनेन कन्दर्पेण सहिता या वेदना
पीडा सैव अन्धकारः तम तस्य शमनी शमयित्रीम् ।

[स्मरण-सा करता हुआ]

वही-वही मैंही वाली आँखों के बटाक्ष से वह मेरे हृदय को हर लेती है;
मन्दहास से पूर्ण अपने कमलानन को मेरी ओर किये हुई है, उसके ओष्ठ हिल
रहे हैं; मैंही सिफुटी हुई और आँखें कुछ मद मुँदो-सी तथा चम-
कीली हैं । ॥२॥

तो मैं पुनः मदन-जनित वेदना रूपी अन्धकार को दूर करने वाली अपनी
प्रियतमा चन्द्रकला को देख रहा हूँ । [सोचकर]

तदिहैव तावत्—विकसितकुसुमभरशीतलामोदमेदस्विनि निरन्तरनवपल्लवप्रताननिवारिततरणिकिरणप्रवेशे रमालतरुतले नीलमणिशिलामध्यासीनो निर्वापयामि प्रेयसीविरहमन्तप्तमात्मानम् ।
[इति परिक्रम्योपविश्य] अये कथमसौ सहकार समन्तत सफुल्लकुसुमपरागं प्रेयसीविरहविधुर भामत्यन्तमुद्वेजयति [विचिन्त्य] एष खलु मयैव चिरपालितो न लङ्घयिष्यति मे वचनम् । तदेनमेव सदैव्य निवेदयामि ।

विकसितकुसुमभरशीतलामोदमेदस्विनि—मञ्जरीसमूहानां शीतलसौरभेण स्पृष्टे, निरन्तरनवपल्लवप्रताननिवारिततरणिकिरणप्रवेशे—निरन्तरं सततं नवपल्लवानां नवविकसितयानां प्रतानेन विस्तारेण निवारित अवरोद्ध तरणिकिरणप्रवेशे सूर्यकिरणप्रवेशे यत्र सादृशे, रमालतरुतले—अ अग्रवृक्षस्य अथ, नीलमणिशिलामध्यासीन—नीलमणे शिलाखण्डोपरि उपविशत, प्रेयसीविरहसन्तप्तम्—प्रियतमावियोगेन दग्धम्, आत्मानं, निर्वापयामि—शमयामि । सहकार—आत्म, समन्तत—सर्वत, सफुल्लकुसुमपरागं—विकसितपुष्परजोभिः, प्रेयसीविरहविधुर—प्रेयस्या प्रियतमाया विरहेण वियोगेन विधुरव्याकुल माम् अत्यन्तम्—अत्यधिकम्, उद्वेजयति—व्याकुलीकरोति । एष—आत्म, चिरपालित—बहो कालात् सरक्षित, मे वचनं न लङ्घयिष्यति—मम आत्माभङ्गं न करिष्यति। सदैव्य—दीनतासहित यथास्थात् तथा, निवेदयामि प्रापये

तो मैं अब इसी आग्रवृक्ष के तले जहाँ निरन्तर नये पल्लवों के विस्तार के कारण सूर्य की किरणें नहीं पहुँचती और जो खिल हुए पुष्पा की शीतल गुणधर्मा परिपुष्ट है, नीलमणि की शिला पर बैठकर प्रियतमा के वियोग से सन्तप्त अपने को शांति प्रदान करूँ । [ऐसा कहता हुआ बैठकर] आह ! यह रसान क्या मुझ प्रिया विरह से पीड़ित को, चारा ओर फूले हुए पुष्पा के पराग से अत्यन्त व्याकुल कर रहा है ? [सोचकर] यह तो मरा ही बिट कास से पाना-पासा हुआ वृक्ष है । इस कारण निश्चिन्ता ही मरे बचना को उहीं दानेगा । अतएव इसी से विनम्र निवेदन करता हूँ ।

[साञ्जलिवद्धम्]

ह हो चतमहीरह त्वमिह न स्नेहेन वृद्धि गत-
स्तत्किं मामभिवर्षसि प्रति मुहुर्धूलिच्छलान्मुर्मुरैः^१ ।

[विभाव्य]

कथमित्ये प्राप्यमानोऽपि आचरसि मयि तथैव परिपन्थित्वम् ?

[स्मरणमभिनीय]

आ ज्ञात कुसुमान्यमूनि विशिखान्निर्माय पञ्चायुध
पञ्चत्व जगती नयत्यविरत तेनावलेपस्तव ॥३॥

ह हो चूतमहीरह—हे आम्नवृक्ष ! त्वम्, इह— अत्र, न—अस्माक, स्नेहेन—प्रेम्णा, वृद्धि गत—वर्धित, तत्—तस्मात्, किं—कथम्, माम्, प्रति, मुहु—बार-बार, धूलिच्छलात्—परागव्याजात्, मुर्मुरै—तुषाग्निभिः, अभिवर्षसि—वृष्टि करोषि ? विभाव्य—विचार्य, प्राप्यमानोऽपि—निवेद्यमानोऽपि, परिपन्थित्व—शत्रुताम्, आ ज्ञातम्—अहं अवगतम्, पञ्चायुध—काम, अमूनि, कुसुमानि—पुष्पाणि, विशिखान्—बाणान्, निर्माय—रक्षयित्वा, अविरत—नित्य, जगती—ससार, पञ्चत्व नयति—विनाशयति, तेन, तव अवलेप—गर्व (जात) । अत्र शार्दूलविनीत छन्दः ॥३॥

[हाथ जोड़कर]

हे आम्नवृक्ष ! तुम तो हमारे हो स्नेह से पले-पोसे और बड़े हुए हो, तो फिर क्यों यह बार-बार मेरे ही ऊपर पुष्प धूलि के बहाने तुषाग्नि बरसा रहे हो ?

[सोचकर]

क्यों निवेदन करने पर भी तुम वैसा ही शत्रुतापूर्ण व्यवहार करते आ रहे हो ?

[स्मरण सा करता हुआ]

अच्छा, समझ गया । तुम्हारे इन फूलों को कामदेव अपना (पञ्च) बाण बनाकर ससार वा नित्य विनाश करता है, इसी से तुम्हें गर्व हो गया है ॥३॥

तदलमिदानीमचेतने भवत्यत्यन्तं कृपणताप्रकाशनेन । पञ्चा-
युधमेव तावत्प्रार्थये^१ यत्प्रसादात्तवायमोदृशो गर्वः । [आकाश-
लक्ष्यमञ्जलि बद्ध्वा^२]

किं कन्दर्पं मुखं विधाय मधुपैः पक्षं नवैः पल्लवै-
रेभिश्चूतशरैः करोषि जगती^३ जेतुं प्रयासं मुधा ।
निद्रातुं शयितुं प्रयातुमथवा स्थातुं क्षमः को भवे-
देकोऽसौ कलकण्ठकण्ठकुहरे जागति^४ चेत्पश्चमः ॥४॥

अचेतने—जड़, भवति—स्वयि, कृपणताप्रकाशनेन—कार्पण्यप्रकटनेन,
अलं—व्यर्थम् । पञ्चायुधं—कामम्, प्रार्थये—विनिवेदयामि, यत्प्रसादात्—
यस्य कृपातः, गर्वः—अभिमानः । आकाशलक्ष्यम्—आकाशं प्रति दृष्टिं
कृत्वैत्यर्थः ।

कन्दर्प—हे कामदेव !, मधुपैः—भ्रमरैः, मुखम्—आननं, नवैः—
नूतनैः, पल्लवैः—किसलयैः, पक्षं—गलनं, विधाय—कृत्वा, एभिः, चूतशरैः—
आम्रबाणैः, जगती—जगत्, जेतुं—वशीकर्तुं, प्रयास—प्रयत्नं, मुधा—व्यर्थं,
करोषि—विदधासि, (यतो हि) चेत्—यदि, कलकण्ठकण्ठकुहरे—कोकिल-
कण्ठविहरे, एकः—एकाकी, असौ—अयं, पश्चमः—पश्चमस्वरः, जागति—
गुञ्जितो भवति, (तर्हि) कः, निद्रातुं—निद्रावस्थायां स्थातुं, शयितुं—
स्वपितुं शयनोपक्रमं कर्तुमिति यावत्, प्रयातुं—प्रस्थातुम्, अथवा—आहो-
स्वित्, स्थातुं, क्षमः—समर्थः, भवेत् ? अत्र शार्दूलविक्रीडित छन्दः ॥४॥

इसलिए तुम जड़ के सामने अपनी पीड़ा का निवेदन करना व्यर्थ है ।
सब मे तो मुझे उसी पञ्चायुध से प्रार्थना करनी चाहिए, जिसकी कृपा से
तुमको ऐसा गर्व हुआ है । [आकाश को लक्ष्य करके हाथ जोड़कर]

हे कामदेव ! तुम भौरो का मुँह और नव पल्लवों का बंश बनाकर आम्र-
मजरी रूपी बाणों द्वारा संसार को जीतने का व्यर्थ प्रयास कर रहे हो ?
सोचो तो यदि इस कोयल के कण्ठ में पंचम स्वर गुँजा तो इस संसार में भला
कौन ऊँघने, सोने, चलने अथवा रुकने में समर्थ हो सकेगा ? ॥४॥

१ अत्र 'त' मू० पा० अयुक्तः । २ बद्ध्वा मू० पा० । ३ जगति मू० पा० ।

४ जागति मू० पा० ।

[विचिन्त्य] अये, कय त्वमपि नामैव प्राख्यमानोऽपि निशितशर-
निपातेन कृन्तसि मे हृदयम् ? शृणु तावत्—

शरस्ते दुर्वार स्मरपुरहरस्यान्तभिदुर

फल किं नामासावधिकमधिगन्तुं तुदति माम् ।

[विचिन्त्य]

अल वा दैन्येन त्वयि यदखिलस्यापि जगतो

मनो मथ्नासीति प्रथितिरिह ते मन्मथ इति ॥५॥

[विचिन्त्य] कय मयापि दुरवसनायं प्रार्थनैनात्मा सन्ताप-

निशितशरनिपातन—तीक्ष्णबाणप्रहारेण, कृन्तसि—छिनत्ति ?

स्मर—हे कदपं !, पुरहरस्य—त्रिपुरारे शिवस्य, अन्तभिदुर—हृदये

वप्य इव, ते—तव, शर—बाण, दुर्वार—दुर्बल वारयितु योग्य—(तर्हि)

असौ—शर किं नाम, अधिकं, फलम्, अधिगन्तुं—प्राप्तुम्, माम्, तुदति—

व्यथयति ? वा—अथवा, त्वयि, दैन्येन—कालयें, अल—व्यर्थम्, यत्—

यस्मात् अखिलस्यापि—सम्पूर्णस्यापि, जगत—ससारस्य, मन—चित्त, मथ्ना-

सि—विलोडयति, इति (हेतोः), इह—तोके, ते, मन्मथ, इति प्रथिति—

प्रसिद्धि (वर्तते) । अत्र शिखरिणीच्छद ॥५॥

दुरवसनायं प्रार्थनैः—दुर्लभवस्तुयाचनेन, सन्तापनीय—वेदनीय । सन्त—

[सोचकर] ओह ! क्यों कामदेव ! तुम भी मेरी प्रार्थना सुनकर भी

पाने तैज बाणा से मेरे हृदय को बेध रहे हो ? अच्छा तो सुनो—

हे कामदेव ! शर के भी हृदय को वप्य के समान लगने वाले तुम्हारे

बाण दुनिवार हैं, फिर मेरे हृदय को इस प्रकार बेधकर कौन-सा बड़ा

ताप उठाना चाहते हो ?

[सोचकर]

अथवा तुमसे दीनता का निवेदन करना व्यर्थ है, क्योंकि ससार के मन

को मथने से कारण तूय मन्मथ नाम से प्रसिद्ध हो चुके हो ॥५॥

[सोचकर] मैं क्यों व्यर्थ, दुर्लभ वस्तु के लिए प्रार्थना कर-करके आत्मा

को कष्ट पहुँचाऊँ ?

नीय ! तथाहि । सन्तोऽस्यन्तु^१ पराङ्मुखा । [सो कण्ठम्]
 सुमुखि ! मा किं नाम नो भाषसे ? [पुनर्विचिन्त्य] आ, कय
 नाम लोकेषु विवेकितया^२ प्रथितिमासादयताऽपि मया निष्फलप्रयासोऽ
 यमनुभूयते । [विचिन्त्य] तथाहि । मूढानां वितथप्रयासपरता ।
 [सदेन्यम्] मा मुखं वामाक्षि ! माम् [पुनर्विचिन्त्य] जलन-
 कारणमनारतं देवीप्रकोपभीतिकातरस्य भर्मवमारम्भ । तथाह्येव
 सति देवी कुप्यति । [सोद्वेगम्] किं प्रपृच्छसि^३ परिरम्भ न
 रम्भोरु मे । [पुनर्विचिन्त्य । सधैर्यावष्टम्भम्] चेत् । प्रार्थयसे

सज्जना, पराङ्मुखा — विमुखा, अस्यन्तु — क्षिपन्तु । सो कण्ठम् — उत्कण्ठया
 ओत्सुक्येन सहितम् । सुमुखि — सुन्दरि !, भाषसे — बतसि । लोकेषु — जनेषु,
 विवेकितया — विवेकशीलतया, प्रथिति — प्रसिद्धिम्, आसादयता — प्राप्नुवता ।
 मूढानां — मूर्खानाम्, वितथप्रयासपरता — व्यर्थप्रयासपरायणत्वम् । वामाक्षि —
 सुनयने !, मा मुखं — न त्यज । अनारत — सतत । देवीप्रकोपभीतिकातरस्य —
 देव्या प्रकोपान् क्रोधात् भीतिं भय तेन कातरं भीतिं तस्य । परिरम्भम् —
 आलिङ्गनम्, रम्भोरु — रम्भा कदलीस्तम्भ इव ऊरु यस्या तादृशि ।
 सधैर्यावष्टम्भम् — धैर्यधारणपूर्वकम् ।

क्योंकि सज्जन लोग विमुख होते जा रहे हैं । [उत्सुकता के साथ]
 सुन्दर मुख वाली ! तुम मुझसे भाषण क्यों नहीं करती
 हो ? [पुनः सोचकर] ओह ! तीनों लोकों में विवेकी रूप से प्रसिद्ध मुझे
 भी अपने प्रयास में निष्फलता का क्यों अनुभव हो रहा है ? [सोचकर]
 क्योंकि व्यर्थ प्रयास करना तो मूर्खों का धर्म है । [दीनता के साथ]
 सुनयने ! मुझे त्यागो मत । [फिर सोचकर] निष्कारण सतत देवी के
 प्रकोप के डर से भीड़ बने हुए मेरा इस प्रकार का प्रयत्न करना व्यर्थ है
 क्योंकि ऐसा होने से देवी क्रुद्ध होगी । [आकुलतापूर्वक] हे कदली-
 स्तम्भ के समान जंघी वाली ! क्यों तुम मेरा आलिङ्गन नहीं चाहती हो ।
 [फिर सोचकर, धैर्य के साथ] हृदय ! क्या किसी अन्य-पुरुष वस्तु के लिए

किमन्यसुलभम् । [सौत्सुक्योद्वेगम् । सवाष्पगद्गदम्] हा क्वासि मे प्रेयसि^१ ।

किं वामाक्षि कटाक्षमाचरयसि प्रेम्णा मयि प्रेयसि

[विभाव्य सविपादम्]

स्मेरेन्दीवरगर्भत कुत इय निर्याति भृङ्गावलि ।

[कोकिलध्वनिमनुष्य सवितर्कम्]

सौत्सुक्योद्वेगम्—उत्कृष्टाव्याकुलतासहितम्, सवाष्पगद्गदम्—अश्रुणा अवहृदकण्ठेन । प्रेयसि—प्रियतमे ।, क्वासि—कुत्रासि ?

वामाक्षि—सुतयने । प्रेयसि प्रियतमे । किं, मयि, प्रेम्णा, कटाक्षम, आचरयसि—करोयि ?, विभाव्य—विचार्य, सविपाद—सखेद, स्मेरेन्दी-वरगर्भत—विकसितनीलकमलान्तर्भागात्, इय, भृङ्गावलि—अमरपङ्क्ति, कुत—कस्मात्, निर्याति—निगच्छति ?, कोकिलध्वनि—कोकिलातापम्, अनुभूय, सवितर्क—वितर्केण ऊहापोहेन सहितम्,

प्रार्थना कर रहे हो ? [उत्सुकता एवं उद्वेग के साथ आँसू से अवहृद कंठ से] हा प्रियतमे । तुम कहाँ हो ?

हे सुन्दर लयनों वाली ! क्या तुम प्रेम पूर्वक नेत्रों से मेरी ओर कटाक्ष करती हो ? [सोचकर, दुःख से] नीलकमल के कोप से यह भीरो का समूह किमर से आ रहा है ? [कोकिल-ध्वनि का अनुभव करके सदेह के साथ]

^१ऊपर के गद्यों से कुछ पंक्तियों को छोट लेने पर यहाँ एक श्लोक बन जाता है —

[सत्तोऽन्यन्तु पराङ्मुखा सुपुंसि मा किं नाम नो भापसे
मूढानां वितथप्रयासपरता मा मुञ्च वामाक्षि माध्व ।

देवी कुप्यति किं प्रवृच्छसि परीरम्म न रम्भोरु मे

चेत. प्रार्थयसे किमन्यसुलभ हा क्वासि मे प्रेयसि ॥६॥]

किं किं व्यवस्यति कुतोऽस्ति^१ च कीदृशी सा^२ ॥६॥

[निःश्वस्य] हा निदंय, जानामी युक्तवानपि अकथितप्रिया-
वृत्तान्त कथं व्रजसि परिहाय मामशरणम् । [सरोधम्] अये, कथं
नाम केतककण्टकावलिग्रथितविग्रहो न मरणमविगच्छयय पाप ।
[कोकिलध्वनिमनुभूय निपुण विभाव्य] अये, सत्यमिदानीम् ।

कुहूमाकारयत्येष कुहूकण्ठो मुहुर्मुहुः ।

तत्कथं परिदृश्येत प्रिया चन्द्रकला मम ॥१०॥

मे महा कथय—ब्रूहि, (मम प्रियतमा) किं किं व्यवस्यति—बेधते
करातीत्यर्थं, कुत—कुत्र, च, अस्ति, कीदृशी, च, सा (इति) । अत्र
वसन्ततिलकच्छद ॥६॥

निदंय—निष्ठुर, अकथितप्रियावृत्तात्—न कथितं नोक्तं प्रियाया चन्द्र-
कलाया वृत्तान्त उदन्तं येन तादृशं, परिहाय—त्यक्त्वा, अशरणम्—नि-
सहायम् । केतककण्टकावलिग्रथितविग्रहः—केतककण्टकावलिभिः केतकीकण्टक-
संघैः ग्रथितं विग्रहं शरीरं यस्य तादृशं, अधिगच्छति—प्राप्नोति ।

एष, कुहूकण्ठ—कोकिल, मुहुर्मुहुः—बारबार, कुहूम्—कुहू इति
मधुरास्फुटशब्दम्, आकारयति—उच्चारयति, तत—तस्मात्, मम, प्रिया,
चन्द्रकला, कथं—केन प्रकारेण, परिदृश्येत—अवलोकयेत् ॥१०॥

हो ? तो शीघ्र बताओ कि वह क्या करना चाहती है, और वंसी दशा
मे है ? ॥६॥

[आह भरकर] हा निम्न ! 'मैं जानता हूँ' ऐसा कहकर भी बिना प्रिया
का वृत्तान्त बताये ही मुझ अशहाय को छोड़कर कैसे जा रहे हो ? [क्रोध के
साथ] अरे ! केतकी के काँटों से विद्धशरीर होकर यह पापी मर क्यों नहीं
जाता ! [कोयल की ध्वनि का अनुभव करके मली भाँति सोचकर] अरे !
सचमुच इस समय—

यह कोकिल बार-बार 'कुहू कुहू' कर रहा है । इसलिए मेरी प्रिया चन्द्र-
कला वंसे दिसाई देगी ? ॥१०॥

१ कुतोऽस्ति मू० पा० । २ कीदृशीयम्, मू० पा० ।

तदेनमेवानुनीय निवारयामि ।

[इति कोकिलमुपसृत्य सविस्मयम्]

विश्राम्यतु कुहूकण्ठ कुहूरिति तव ध्वनिः ।

यत्तया नैति साम्मुख्य प्रिया चन्द्रकला मम ॥११॥

[सरोधम्] आ०, कथं प्रार्थ्यमानोऽपि तथैव व्याहरसि ?

[विचिन्त्य] भवतु । परव्यसनसन्तुष्ट न पुनरेन मलिनात्मानं प्रार्थयिष्ये । तदितोऽन्यतो गत्वापि प्रियतमामन्वेपयामि । [कतिचित्पदानि गत्वा मलयानिलस्पर्शमनुभूय सोद्वेगम्] अहो, किमिदानीं दरदलितकेतकपरिमलमिलदविरलभ्रमरक्षङ्कारमुखरिताशामुखचन्दनानिलोऽपि मामुत्तापयति । भवतु, तदेनमेवमनुनयामि ।

कुहूकण्ठ—हे कोकिल । तव—ते, कुहू, इति ध्वनि-शब्दः, विश्राम्यतु—विरमतु, यत्—यस्मात्, तथा कृत्वा, प्रिया, चन्द्रकला, मम—मे, साम्मुख्य—समक्ष, नैति—नागच्छति ॥११॥

प्रार्थ्यमानोऽपि—अभ्यर्थ्यमानोऽपि, व्याहरसि—निगदसि । परव्यसनसन्तुष्टम्—अन्यस्य विपदा सन्तुष्टम्, मलिनात्मान—दूषितान्तःकरणम्, दरदलितकेतकपरिमलमिलदविरलभ्रमरक्षङ्कारमुखरिताशामुखः—दरदलितस्य किञ्चिन्मर्दितस्य केतकस्य परिमलेन सुवासेन मिलन्तः सगच्छन्तः अविरलाः सधनाः भ्रमरा तेषां क्षङ्कारेण मुखरितं नादितम् आशामुखं दिङ्मुखं येन तादृशः, चन्दनानिल—मलयमारुतः ।

इसलिए इसीको मनाकर रोक देता हूँ ।

[यह देखकर कोकिल के पास जाकर आश्रय के साथ]

हे कोकिल ! तुम कूकना बन्द करो; क्योंकि इस कारण मेरी प्रिया चन्द्रकला (मेरे) सामने नहीं आ रही है ॥११॥

[क्रोध के साथ] आह ! प्रार्थना करने पर भी क्यों ऐसा बोल रहे हो ?

[सोचकर] अच्छा, पर-सन्ताप से सन्तुष्ट होने वाले इस मलिनात्मा से अब फिर प्रार्थना नहीं करूँगा । यहाँ से चलकर प्रियतमा को अन्यत्र ढूँढ़ूँ । [कुछ कदम चलकर मलयानिल के स्पर्श का अनुभव करके उद्वेगपूर्वक] क्या, पुष्पित केतकी के पराग से मोहित मीरों के गुञ्जन स्वर से दिशाओं की मुखरित

तृतीयोऽङ्कः

किं किं व्यवस्यति कुतोऽस्ति^१ च कीदृशी सा^२ ॥६॥

[निःश्वस्य] हा निर्दय, जानामी-युक्तवानपि अकथितप्रिया-
वृत्तान्तं कथं व्रजसि परिहाय मामशरणम् । [सरोपम्] अये, कथं
नाम केतककण्टकावलिप्रथितविग्रहो न मरणमधिगच्छयथ पापः ।

[कोकिलध्वनिमनुभूय निपुण विभाव्य] अये, सत्यमिदानीम् ।
कुहूमाकारयत्येष कुहूकण्ठो मुहुर्मुहुः ।

तत्कथं परिदृश्येत प्रिया चन्द्रकला मम ॥१०॥

मे मया कथय-ब्रूहि, (मम प्रियतमा) किं किं व्यवस्यति—वेष्ट्यं
करातीत्यर्थं, कुत—कुत्र, च, अस्ति, कीदृशी, च, सा (इति) । अत्र
वस-ततिलकच्छन्दः ॥६॥

निर्दय-निष्ठुर, अकथितप्रियावृत्तान्तं—न कथितं, नोक्तं, प्रियाया, चन्द्र-
कलाया, वृत्तान्तं, उदन्तं येन तादृशं, परिहाय—त्यक्त्वा, अशरणम्—नि-
सहायम् । केतककण्टकावलिप्रथितविग्रहः—केतककण्टकावलिभिः केतकीकण्टक-
संज्ञैः प्रथितः विग्रहः शरीर यस्य तादृशः, अधिगच्छति—प्राप्नोति ।

एषः, कुहूकण्ठ—कोकिलः, मुहुर्मुहुः—बारबार, कुहूम्—कुहू इति
मधुरास्फुटशब्दम्, आकारयति—उच्चारयति, तत्—तस्मात्, मम, प्रिया,
चन्द्रकला, कथं—केन प्रकारेण, परिदृश्येत—अवलोकयेत् ॥१०॥

हो ? तो शीघ्र बनाओ कि वह क्या करना चाहती है, और कौसी हवा
मे है ? ॥६॥

तदेनमेवानुनीय निवारयामि ।

[इति कोकिलमुपसृत्य सविस्मयम्]

विश्राम्यतु कुहूकण्ठ कुहूरिति तव ध्वनिः ।

यत्तया नैति साम्मुख्य प्रिया चन्द्रकला मम ॥११॥

[सरोषम्] आ०, कथं प्रार्थ्यमानोऽपि तथैव व्याहरसि ?

[विचिन्त्य] भवतु । परव्यसनसन्तुष्ट न पुनरेन मलिनात्मानं प्रार्थयिष्ये । तदितोऽन्यतो गत्वापि प्रियतमामन्वेषयामि । [कतिचित्पदानि गत्वा मलयानिलस्पर्शमनुभूय सोद्वेगम्] अहो, किमिदानीं वरदलितकेतकपरिमलमिलदविरलभ्रमरक्षङ्कारमुखरिताशामुखचन्दनानिलोऽपि मामुत्तापयति । भवतु, तदेनमेवमनुनयामि ।

कुहूकण्ठ—हे कोकिल । तव—ते, कुहू, इति ध्वनिः—शब्दः, विश्राम्यतु—विरमतु, यत्—यस्मात्, तथा—कृत्वा, प्रिया, चन्द्रकला, मम—मे, साम्मुख्य—समक्ष, नैति—नागच्छति ॥११॥

प्रार्थ्यमानोऽपि—अप्रार्थ्यमानोऽपि, व्याहरसि—निगदसि । परव्यसनसन्तुष्टम्—अन्यस्य विपदा सन्तुष्टम्, मलिनारमान—दूषितान्तःकरणम्, वरदलितकेतकपरिमलमिलदविरलभ्रमरक्षङ्कारमुखरिताशामुखः—वरदलितस्य किञ्चिन्मर्दितस्य केतकस्य परिमलेन सुवासेन मिलन्तः समच्छन्त अविरलाः सघनाः भ्रमराः तेषां क्षङ्कारेण मुखरितं नादितम् आशामुखं दिङ्मुखं येन तादृशः, चन्दनानिल—मलयमास्तः ।

इसलिए इसीको मनाकर रोक देता हूँ ।

[यह देखकर कोकिल के पास जाकर आश्रय के साथ]

हे कोकिल ! तुम कूकना बन्द करो; क्योंकि इस कारण मेरी प्रिया चन्द्रकला (मेरे) सामने नहीं आ रही है ॥११॥

[क्रोध के साथ] आह! प्रार्थना करने पर भी क्यों ऐसा बोल रहे हो ?

[सोचकर] अच्छा, पर-सन्ताप से सन्तुष्ट होने वाले इस मलिनात्मा से अब फिर प्रार्थना नहीं करूँगा । यहाँ से धतकर प्रियतमा को अन्यत्र दूँ । [कुछ कदम चलकर मलयानिल के स्पर्श का अनुभव करके चढ़े गूँघरूँ] क्या, पुष्पित केतकी के पराग से मोहित मीरों के गुञ्जन स्वर से दित्तानों को धुलारि

किं नाम्ना^१ विदधासि सुन्दरि !

[निरूप्य] कथं क्रीडापिकीनि स्वन ?

[पुनरन्यतो विलोक्य सहर्षम्]

जित मया । किं प्राप्तासि कृशोदरि !

[सनैराश्यम्^२ । दीर्घं नि श्वस्य]

आ , कथं मम भाग्यविपर्ययेण स्तवकिनीवल्लीयमुत्पल्लवा^३ ॥७॥

[इति मूर्च्छित^४ पतति]

[समाश्वस्योत्थाय दिशोऽवलोक्य उच्चै^५ कारम्,] ननु भो क्रीडावनविहारिण ! तरुमृगविहङ्गमा ! जानन्ति भवन्तं युती मे

विदधासि—नामोच्चारण करोषि ? निरूप्य—वीक्ष्य, कथं, क्रीडापिकीनि स्वन—क्रीडापिकीलशब्द ? , कृशोदरि—क्षीणमध्यमे ? , किं, प्राप्तासि—सम्प्राप्तासि ? , भाग्यविपर्ययेण—भाग्यदोषेण, इयं, स्तवकिनी—गुच्छावली वल्ली—लता, उत्पल्लवा—नवविशलया (जाता) ? अत्र शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥७॥

समाश्वस्य—सात्वना प्राप्य, उच्चै^५ कारम्—उच्चै^५ कृत्वा, क्रीडावनविहारिण—क्रीडोद्यानविहरणशीला ! , तरुमृगविहङ्गमा—वृक्षपशुपक्षिण ! ,

मुदरी ! क्या नाम ले (कर पुकार) रही हो ? [देखकर] क्या यह पालतू कोयल का शब्द है ? [पुन दूसरी ओर देखकर हर्ष के साथ] मैंने जीत लिया । हे पतनी कमर वाली ! क्या तुम मिल गई हो ? [निराश होकर सबी साँस खींचता हुआ] आह ! मेरे दुर्भाग्य से, यह क्या पत्तनो वाली पुण लता सामने फूटी हुई है ? ॥७॥

[मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है]

[आश्वस्त होकर उठकर दिशा की ओर देखता हुआ ओर से] हे क्रीडोद्यान मे विहार करने वाले ! वृक्ष, पशु तथा पक्षियो ! आपसो जानने

१ नामा मू० पा० । २ सनैराश्य मू० पा० । ३ ऊपर के श्लोक का चौथा चरण यह है —‘किं प्राप्तासि कृशोदरि स्तवकिनीवल्लीयमुत्पल्लवा’ ।

४ मूर्च्छित मू० पा० ।

। [विभाव्य] अये, कथमिदानीमिहाहूय मामकथयित्वा प्रिया-
वृत्तान्त मौनमवलम्बसे ? [सरोपम] अये, मृपावञ्चक । तदिह न-
चिरादेव दावानलस्य विषयीभविष्यति भवानेक । [पुनरन्यतो गत्वा
सवितर्कम्] नूनमनेन सर्वतश्चरता चञ्चरीकेण विदिता भविष्यति
मा । तदेतमेवोपसृत्य गच्छामि । [इत्युपसृत्य सविनयम्]

भ्रातृद्विरेफ^१ भवता भ्रमता समन्तात्
प्राणाधिका प्रियतमा मम वीक्षिता किम् ।

[सङ्कारमनुभूय सानन्दम्]

द्रूपे किमोमिति सखे कथयाशु तन्मे

इह—अत्र, आहूय—आकारयित्वा, प्रियावृत्तान्त—प्रियमाचारम् । मो-
तूष्णीम्भावम्, अवलम्बसे—गृह्णासि ? मृपावञ्चक मिथ्याप्रतारक ।, नचिरा
देव—शीघ्रमेव दावानलस्य—दावाग्ने विषयीभविष्यति—लक्ष्यीभविष्यति ।
सर्वत—चतुर्दिग् चरता—भ्रमता चञ्चरीकेण—भ्रमरेण, विदिता—ज्ञाता ।
उपसृत्य—समीप गत्वा ।

भ्रातृ, द्विरेफ—भ्रमर^१, समन्तात्—सर्वत, भ्रमता—चरता, भवता,
मम, प्राणाधिका—प्राणतोऽपि गरीयसी, प्रियतमा—प्रेयसी, किं वीक्षिता—
कथयिष्यता ? सङ्कारमनुभूय सानन्दमिति कविवाक्यम् । तत्र वा च भ्रमरस्य
सङ्कारमेव ओम् शब्द मत्वा नायक पुनराहेत्यर्थः । किम्, ओमिति,
द्रूपे—कथयसि ?, ओमिति स्वीकारार्थमव्ययम् । तथा च 'मया वीक्षिता'
इति किं स्वीकरोषीत्यर्थः । तत—तदा सखे—मित्र । आशु—शीघ्र,

[सोचकर] अरे ! मुझ दुसाकर ना मेरी प्रियतमा का वृत्तान्त बिना
बताय ही मौन धारण कर रहे हो ? [शोध के साथ] हे मिथ्या वचक ।
अब से अधिक देर वाद नही (शोध ही) तुम दावानल से भस्म हो जाओगे ।
[पुन दूसरी ओर जाकर तर्क पूर्वक] सर्वत्र विचरण करने वाले ये भौरे
निश्चित ही उससे विषय में जानने होंगे । तो उनके पास पहुँचकर पूछ ।
[यह कहकर उनके पास जाकर विनय के साथ]

बहु भ्रमर ! तुम चारों ओर विचरते हो । प्राण से भी बढ़कर मेरी
प्रियतमा को देखा है क्या ? [सकार मुनकर आनन्द से] क्या ही कह रहे
१ द्विरेफमू० पा० ।

[इति सविनयम्]

धीरसमीरण दक्षिणसरसिजंशीतल किं दहस्येवम्,

[सविमर्शम्]

जाने चन्दनशैलद्विजिह्वससंगद्रूपितस्त्वमपि ॥१२॥

[नेत्र्ये] अहो, पश्यत, पश्यत—

आस्तीर्णा इव नीलचेलनिचयैः पूर्णा इवेन्द्रीवरै-

राकीर्णा इव चूर्णितैर्मृगमदैः पूर्णा इवाध्रंनैर्व ।

रुद्ध्यानेन विगृह्य सोचनपथं भेद्येन सूचीमुखै-

धीरसमीरण— हे मन्दपवन ! दक्षिणसरसिजशीतल—दक्षिणवनस्थैः सरसिजैः कमलैः शीतल शीतलस्पर्श ! किम्, एवम्, दहसि—भस्मीकरोपि, जाने, त्वमपि, चन्दनशैलद्विजिह्वससंगद्रूपितः—मलयगिरिवर्तिनसम्पर्केण दूषितो जात इति शेषः ॥१२॥

नीलचेलनिचयैः—नीलाम्बरसमूहः, आस्तीर्णा इव—अच्छादिता इव, इन्द्रीवरै—नीलकसलै, पूर्णा इव—समृता इव, चूर्णितैः—पिष्टैः, मृगमदैः—वस्तूरीभिः, आकीर्णा इव—ध्याप्ता इव, नवैः—नूतनैः, अध्रैः—मेघैः, पूर्णा इव, अनेन, तमालमलिनच्छायेन—तमालवृक्षवत्, मलिना वृष्णवर्णा छाया कान्तिः यस्य तादृशेन, सूचीमुखैः भेद्येन—निविष्टेन, तमना-

करने वाला यह मलयगिरि भी मुझे सन्तप्त कर रहा है ? अस्तु, इस सेभी निवेदन करता हूँ । [ऐसा कहकर विनय के साथ]

हे दक्षिण वन के कमलों से शीतल मन्द वायु ! मुझे इस प्रकार क्यों सन्तप्त करते हो ? [विचार करके] भालूम होता है कि मलयगिरि के सर्पों के ससर्ग से तुम भी दूषित हो गये हो ॥१२॥

[निपट्य मै] यहा, देसो, देखो—

तमालवृक्ष की मलिना छाया की भाँति सूचीमेढ अन्धकार में समस्त वृक्षों को ध्याप्त कर लिया, नयन-मय पर कृष्ण भी दृष्टिगत नहीं होता। पंडता है कि सम्पूर्ण दिशाएँ नील वस्त्रों से अच्छादित हो गई जवना

राज्यन्नास्तमसा नमाममलिनच्छायेन* सर्वा दिशः ॥१३॥

राजा—[निशम्य, समन्तादवलोक्य] अये, कथमिदानीम्—

आलोकाय भवन्ति न व्रततयो नैषा न भूमीरुहो

नाकाशं न वसुन्धरा न हरितो नाक्षार्णि नाङ्गानि वा ।

रुद्धवानेन कुतश्चिदेत्य जगती कस्मादकस्मादहो

सर्वं ववापि निरन्तरेण तमसा सहृत्य नीतं बलात् ॥१४॥

अन्धकारेण, विगृह्य—विरोधं कृत्वा, लोचनपथ — दृष्टिमार्गं, रुद्ध्वा,
सर्वा—समस्ताः, दिशः, आच्छन्नाः — आवृत्ताः । अत्र शार्दूलविक्रीडितं
छन्दः ॥१३॥

न व्रततयो—न सताः, न एषाः—न भूमा, न भूमीरुह—न वृक्षाः,
न आकाश, न वसुन्धरा—न पृथ्वी, न हरितः—न विहाः, न अक्षार्णि—
न सप्तर्षि, वा—अथवा, न अङ्गानि—न अवयवाः, आलोकाय—दर्शनाय,
भवन्ति—जायन्ते । अहो—आश्चर्यम्, कस्मात्—कथम्, अकस्मात्—
असमावितरूपेण, कुतश्चित् — कस्मादपि स्यात्वात्, एत्य — आगत्य,
जगती — संसार, रुद्ध्वा — अवबध्य, अनेन, निरन्तरेण — स्यामिना,
तमसा—अन्धकारेण, सर्वं—निरिवल वस्तुजात, सहृत्य—एकधीकृत्य,
ववापि—कुत्रापि, बलात्—बलपूर्वक, नीतं—प्रापितम् । अत्रापि शार्दूलवि-
क्रीडित छन्दः ॥१४॥

सर्वत्र नीलकमल सिल गये हैं अथवा कस्तूरी का चूर्ण सर्वत्र बिखेर दिया
गया है या मवीन मेघ छि गये हैं ॥१३॥

राजा—[सुनकर, चारों ओर देखकर] ओह, यह क्या ?

सताएँ, हरिण, वृक्ष, आकाश, पृथ्वी, सिंहा, साँप और यहाँ तक कि घटीर
के अग भी आँखों दिखाई नहीं पड़ रहे हैं । अरे, यह तो कहीं से बाहर
स्यायी अन्धकार ने अचानक जगतीतल को ढक लिया और सभी वस्तुओं को
एकत्रित करके बलपूर्वक कहीं अन्यत्र उठा ले गया ॥१४॥

[विचिन्त्य]

दुर्लक्ष्योऽपि^१ भवति नितरा बाणघात. परेषा—

मस्यत्वेव कथमितरथा जायते पुष्पकेनो ।

ध्वान्तच्छन्ने जगति परितश्चापमाकृष्य रोषा—

दित्य यस्मादधिकमधुना मामय निर्भिनत्ति ॥१५॥

[विचिन्त्य] कथमिदानीमपि चीयते प्रियवयस्यो मे रसालक

सुहृत्प्रकाशित स्रु शिथिलीभवति सकलोऽप्यान्तर क्लेश ।

[ततः प्रविशति विदूषकः]

परेषाम्—अन्येषा बाणघात—बाणप्रहार नितराम्—अत्यन्त,
दुर्लक्ष्य—अदृश्य, भवति, एवम्—इत्थम् अस्यति—प्रक्षिपति, (वेत्त)
पुष्पकेतो—कामस्य, (बाणघात) कथम्, इतरथा—अन्यथा, जायते?
परित—चतुर्दिक्षु ध्वान्तच्छन्ने—तमसावृते,, जगति—सत्तारे यस्मात्,
यत, अय—काम, रोषात्—क्रोधात्, इत्थम्—अमुना प्रकारेण, चाप—
धनु, आकृष्य, अधुना—इदानीम्, माम्, अधिक, निर्भिनत्ति—छिन-
त्ति । अत्र मन्द्राका-गच्छन्ति ॥१५॥

चीयते—क्षुश्यते, रसालक—एत नामको विदूषक । सुहृत्प्रकाशित—
मित्राय निवेदित, आन्तर—अन्तःकरणस्य, क्लेश—दुःख, शिथिलीभवति—

[सोचकर] दूसरों के द्वारा छोड़ा गया बाण कठिनाता से ही बुझिगया होता है । परन्तु आघात करता ही है, फिर कामदेव के छोड़े गये बाण कैसे अन्यथा हो सकते हैं ? यही कारण है कि खोर अचकार के द्वारा चारो ओर से जगतीतल के छक सिये जाने पर यह कामदेव कोषपूर्वक अपना धनुष को खींचकर मुझे अत्यन्त ही पीड़ित कर रहा है ॥१५॥

[सोचकर] मेरे प्रिय मित्र रसालक इस समय भी डिराई पड़ रहे हैं । मित्र पर अन्तर का क्लेश प्रकट कर देने से कम हो जाता है ।

[इसके बाद विदूषक प्रवेश करता है ।]

विदूषक — कुत्रेदानी पश्यामि इह घोर अन्धकारे कुत्रापि सुठन्त
मदनवेदनोद्विग्न^१ प्रियवयस्यम् । कथम् इह एव अनावरणाभरण-
प्रतापभासुरो दृश्यते वातुल इव परिभ्रमन्नेष^२ । तदिदानीमेतस्य
प्रिय निवेद्य सक्लानामपि मन्त्रिवराणां शिरसि चरण^३ दास्यामि^४ ।
(किं हि दाणि पेक्खामि इध घोरअन्धकारे कंहिपि लुडन्त मदनवेदणा-
उद्विग्न पिअवयस्स । [अग्रतोऽवलोक्य] कध इधज्जेव अणावरणा-
भरणप्पतापभासुरो दीसदि वाचिलोच्चिअ परिभ्रमन्तो एसो । तादाप्पि
एदस्स पिअ णिवेदिअ सअसाण वि मन्तिवराण शिरे पत्तण
दइस्स ।)

[इत्युपसर्पति]

राजा—सखे ! एहोहि । कथम् कथं वा मम विनोदनीय मदन-
वेदनाविदूत हृदयम् ।

न्यूनीभवति । सुठ-सम्—इतस्तत् पतन्त, मदनवेदनोद्विग्नम्—कामपीडया
व्याकुलम् । अनावरणाभरणप्रतापभासुर — वस्त्रामूषणरहितोर्जि प्रताप-
मात्रेण शोभमान, वातुल — उन्मत्त । शिरसि चरण दास्यामि—सर्वतः श्रेष्ठो
भविष्यामि । मदनवेदनाविदूतम्—कामपीडाभ्यधितम् ।

विदूषक—इस घोर अन्धकार के मध्य कामवेदना से पीड़ित अपने प्रिय
मित्र को कहाँ देख सकूंगा ? [सामने देखता हुआ] अरे, यही वस्त्रामूषणो
से सुसज्जित न होते हुए भी केवल अपने प्रताप से प्रकाशमान वे एक उन्मत्त
की भाँति घूमते हुए दिखाई दे रहे हैं । तो अब उनके प्रिय सुन्दर का कबन
करके मैं समस्त श्रेष्ठ मन्त्रियों के सिर पर चरण रख लूंगा ।

[यह कहकर राजा के निकट पहुँचता है]

राजा—मित्र ! आओ, आओ । यह बताओ कि मदनवेदना से पीड़ित
मेरा हृदय कैसे बहताया जाय ?

१ मदनवेदनोद्विग्न मू० पा० । २ परिभ्रमन्नेष मू० पा० । ३ चरण मू०
पा० । ४ दास्यामि मू० पा० ।

विदूषकः—यस्य तवाहम् अतिशयितसकलमन्त्रिबुद्धिविभवः^१ प्रियवयस्यः तस्य कथं मदनवेदनाया अप्यवकाशः । (जंत्स दे अहं अदिसइदसअलमन्त्रिबुद्धिविहवो पिअवअस्तो तस्स कथं मदनवेदनाएवि अवकासो ।)

राजा—कथय, कथ नाम ?

विदूषकः—एषा खलु इदानीमेव अदूरस्थितं मणिमण्डपम् आनीता मया सह सुनन्दनया^२ । यदिदानी^३ भतकितमेघमण्डलीव कुतोऽप्यागत्य देवी अन्तराया^४ न भवति तदा उपलब्धव्या त्वया चन्द्रकला । (एसा-वत्तु दाणि एदंज्जेव अदूरवट्ठिदं मणिमण्डवं आनिदा मए सह सुणद-णाए । अजदिदाणि अथन्निकदमेहमण्डलीविअ कुरोवि आअदुअ देवी अन्तरा ण भोदि तदा उवलद्धव्या तए चन्दअला ।)

[ततः प्रविशति माघविक्रया निर्दिश्यमानमार्गा देवी रतिकला च]

अतिशयितसकलमन्त्रिबुद्धिविभवः—अतिशयितः अतिश्रान्तः सकलानां समस्तानां मन्त्रिणां बुद्धिविभवः धीसम्पदा येन तादृशः । अदूरस्थितं—समीपवर्तिनम् । भतकितमेघमण्डली—अतकिता असम्भाविता मेघमण्डली जलदर्पिताः, अन्तराया—विघ्नरूपा, उपलब्धव्या—प्राप्तव्या । निर्दिश्यमानमार्गा—निर्दिश्य-

विदूषकः—समस्त मंत्रियों के बुद्धि-बैभव को पराजित कर देनेवाला मुझ बैसा जिसका प्रिय मित्र है, उसको मदनवेदना का अवसर कहां ?

राजा—बताओ, किस प्रकार ?

विदूषकः—उसे तो अभी-अभी सुनन्दना के साथ यहाँ से निकट ही मणिमण्डप में ले आया हूँ । अब यदि, अबानक मेघ-मण्डली की भाँति देवी कहीं आकर विघ्न न बन जायें तो चन्द्रकला मुझे प्राप्त हो जाएगी ।

[इसके बाद माघविक्रया द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से महारानी अपनी सभी रतिकला के साथ आती है ।]

* १ अतिशयितसकलमन्त्रिबुद्धिविभवोक्तः मू० पा० । २ सुनन्दना मू० पा०

३ यदिदानीम् मू० पा० । अन्तरायो मू० पा० ।

देवी—चेटि ! एवमपि नाम भवेत् । (हञ्जे) एवं पि नाम भवे ।
मायविका—पश्यतु भट्टिनी । पेखदु भट्टिणी ।

[इत्यङ्ग त्या निर्दिशति]

देवी—[विलोक्य] सखि रतिकले ! किमिदानी कुर्म (हला
रतिकले ! कि दाणि करेम्ह ।)

रतिकला—प्रच्छन्ना एतम् अनुगच्छन्त्य ' सर्वं जानीम' (पञ्च-
भाज्जेव एद अणगच्छन्ति सन्न जानम्ह ।)

राजा—सखे ! केन पुनरुपायेन इत आनीताज्येया ।

विदूषक—एवमिव । (एव ।)

[इति कर्णे कथयति]

राजा—[सहर्षम्] सखे ! तदेतत्तव पारितोषिकम् । [इति कङ्कण
दत्त्वा] तदिदानी दर्शय कुन प्रियतमा ।

[सत प्रविशति सोत्कण्ठा चन्द्रकला सुनन्दना च]

मान उच्यमान भागं पत्न्या यस्य तादृशी । प्रच्छन्ना—गुप्ता, अनु-
गच्छन्त्य—अनुसरन्त्य । पारितोषिकम्—गुरुरस्कार । अनिवेद—महता

देवी—चेटिके ! निश्चित ही यह समव है ।

मायविका—देखिए, महारानी ! [कहती हुई अगुनी से निर्वेद करती,]

देवी—[देखकर] सखी रतिकला ! इस समय क्या करना चाहिए ।

रतिकला—छिपकर इसका अनुसरण करती हुई हम लोग सब जान लें !

[विसा ही करती हैं]

राजा—मित्र ! वह यहाँ किस प्रकार लायी गई ?

विदूषक—इस प्रकार [कान में कहता है]

राजा—[हर्षित होकर] मित्र ! तो यह रहा तुम्हारा पुरस्कार !

[कहते हुये वक्त्र देकर] तो प्रियतमा कहाँ है ? दिखाओ ।

[इससे बाद उत्पत्ता-युक्त चन्द्रकला और सुनन्दना का प्रवेश]

चन्द्रकला—[सनिर्वेदं दीर्घं निःश्वस्य] सखि ! अकारणं किमिति मां पुनः पुनर्वन्धयन्ती^१ क्लेशयसि ? अहमिदानीमस्यामशोकशाखाया कण्ठे लतापाशं बद्ध्वा आत्मानं व्यापादयामि । मा मामिदानीं निवारयस्व । (हला ! अकारणं कीदृशं पुनो पुनो बन्धयन्ति कलिसा^२ भवेति । अहं दानी एमाए असोअमहाए कण्ठे लतापाशं^३ उब्वन्धिअ अत्ताणं बावादेमि । मा मं इदानीं निवारेशु ।)

सुनन्दना—सखि ! मा उत्ताम्य । मम वचनेन क्षणमपि परिपालयस्व भर्तुं रागमनम् । (हला ! मा उत्तमह । मह वअणेण क्षणपि पडिवालेसु भट्टिणो आवमणम् ।)

विदूषकः—एत् एतु प्रियवयस्य । (एदु एदु पिअवअस्तो ।)

[इत्युभौ परिक्रामतः — सर्वा अनुक्रामन्ति]

विदूषकः—पश्यतु पश्यतु प्रियवयस्य । एषा सा आत्मन एव अङ्गकात्या महान्धकारेऽपि प्रकाशिता ते प्रियतमा । (वेयलदु पेयलदु

कण्ठेन सहितम् । बन्धयन्ती — प्रवारयन्ती, क्लेश—पसि—कण्ठे इदानीं लतापाशं—लतायाः बन्धनीम्, व्यापादयामि—मारयामि । निवारयस्व—नि-
वेध । मा उत्ताम्य—निराशा भूत्वा अलम् निराशा मा भवेति यावत् ।
परिपालयस्व—प्रतीक्षस्व । अनुक्रामन्ति—पश्चात् चलन्ति । अङ्गकात्या—
शरीरतेजसा ।

चन्द्रकला—[लम्बी साँस लेकर] सखी ! क्यों मुझे बार-बार घोल देकर दुःख देती हो ? मैं अब लता-पाश के द्वारा इसी अशोक की डाल में अपना गला बाँधकर हत्या कर लूँगी । अब मुझे रोकना मत ।

सुनन्दना—सखी ! हताश न हो । मेरे कहने के अनुसार क्षण भर तो महाराज के जाने की प्रतीक्षा करो ।

विदूषक—आओ मित्र ! आओ । (दोनों चलते हैं । सभी स्त्रियाँ अनुसरण करती हैं ।)

विदूषक—देखो प्रिय मित्र ! देखो—तुम्हारी प्रियतमा अपने अंगों की कान्ति

१. बन्धयन्ती नू०पा० । २. कलिसा नू०पा० । ३. लतापाशं नू०पा०

पिबदजस्तो । एषा सा अक्षणोज्ज्वल अङ्गकन्ति ए महअन्धकारेवि
पवासिदा दे पिबदमा ।)

राजा— [विलोभ्य सहर्षम्] अये, अस्या खलु -
बिम्बस्यासुकृतेन दन्तवसन मत्तैभकुम्भद्वय-
स्यापुण्येन पयोधरौ कुवलयस्याकर्मणा चक्षुषी ।
इन्दोर्भाग्यविपर्ययेण वदनं कुन्दावलेरेनसा
दन्ताली कदलीतरोश्च दुरितेनोद्भव्य निर्मितम् ॥१६॥

किञ्च,

मध्येन मध्यं तनुमध्यमा मे पराजय नीतवतीति रोषात् ।

बिम्बस्य-बिम्बफलस्य, असुकृतेन-अपुण्येन, दन्तवसनम्-ओष्ठम्,
मत्तैभकुम्भद्वयस्य-मत्तगजस्य शिरस मत्तपिण्डद्वयस्य, अपुण्येन-पापेन,
पयोधरौ - कुक्षौ, कुवलयस्य - नीलकमलस्य, अकर्मणा-निन्दितकर्मणा
चक्षुषी-नेत्रे, इन्दो - चन्द्रस्य, भाग्यविपर्ययेण - ईवप्रातिकूल्येन,
वदनं - मुखम्, कुन्दावले - कुन्दपुष्पाणां पङ्क्तिः, एनसा - पापेन
दन्ताली-दन्त, पट्टिक्तः, कदलीतरोश्च-कदलीवृक्षस्य, दुरितेन-पापेन, उद्-
भव्य-जन्मायुक्त, निर्मितम्-रचितम् (अत्रशार्दूलविक्रीडित छन्दः) ॥१६॥

तनुमध्यमा-कृष्णतरकटीदेशा, मध्येन-कटीदेशेन, मे-मम तिहस्य,
मध्य-कटीदेश, पराजय नीतवती-पराजितवती इति, रोषात्-क्रोधात्,
से इस अन्धकार मे भी प्रकाशित हो रही है ।

राजा-[देखकर हर्ष के साथ] अहा ! इसके—

ओष्ठ कदाचित् बिम्बाफल के अभाग्य से, दोनों कुच मत्त हाथी के गिर
के दोनों मांस-पिण्ड के दुर्भाग्य से, आखें नीलकमल के पापोदय से, मुख
चन्द्रमा के भाग्योदय से, दन्त - पङ्क्ति कुन्द - पुष्पों की पङ्क्ति के पाप से और
दोनों जवाहों कदलीवृक्ष के पाप के कारण बन पड़े हैं (नवि का तात्पर्य यह
है कि इसके शरीरांग—ओष्ठ, कुच, नेत्र, मुख, दन्तावली और जाँघें क्रमशः
बिम्बाफल, मत्तगज के कुम्भद्वय, नीलकमल, चन्द्रमा, कुन्दपुष्प और कदलीवृक्ष
की सुन्दरता को सजाने वाले हैं ॥१६॥

और भी, सिंह इस विचार से कि इस क्षीणकटि सुन्दरी ने मेरी कवि

कण्ठीरवोऽस्याः कुचकुम्भतुल्यं मत्तेभकुम्भद्वितयं भिनत्ति ॥१७॥
 देवी—[निःश्वस्य] अहो, महाभिनिवेशोऽस्यां दुष्टकन्यकाया-
 मायंपुत्रस्य। सखि! तदेहि इह भित्त्या अन्तरिता उपरिवृत्तान्तं पश्यामः।
 (अहो महअहिनिवेशो एदाए दुट्ठकणआए अज्जउत्तस्य । हला, ता
 एहि इम भित्तिए अन्तरिदा उपरिवुत्तन्तं पेक्खम्ह ।)
 [इति सर्वाः अन्तरिता पश्यन्ति]

राजा—सखे! तदेहि निर्वापयामो मदनमन्तप्तमात्मानमस्याः।

[इत्युपसर्पतः]

चन्द्रकला—[विलोक्य सचक्रितव्रीड सहसोत्थाय मुख नमयन्ती]

कण्ठीरवः—सिंहः, अस्याः—नायिकाया, कुचकुम्भतुल्य—स्तनकुम्भसदृशं, मत्ते-
 भकुम्भद्वितय—मत्तगजकुम्भयुगलं, भिनत्ति—नक्षराघातेन विदारयति। अत्र
 प्रत्यनीकमलङ्कारः प्रतीपासङ्कारश्चेत्यनयोरेकाग्रपानुप्रवेशरूपः सङ्करः।
 उपजातिशब्दः ॥१७॥

महाभिनवेशः—महती अनुरक्तिः। भित्त्या—कुद्वयेन, अन्तरिताः—
 प्रच्छन्नाः, उपरिवृत्तान्तम्—अग्रिमघटनाम्। निर्वापयाम—शमयामः, मदनस-

खी क्षीणता को पराजित कर दिया, क्रुद्ध होकर इसके कुचकुम्भ की भाँति
 मत्त गज के दोनों कुम्भों को विदीर्ण कर रहा है ॥१७॥

देवी—[लम्बी साँस लेकर] आह! महाराज का इस दुष्ट कन्या
 के प्रति तो बड़ा ही अधिक अनुराग है। सखी! तो आओ, दीवाल की ओट
 से सारे क्रिया-कलापों को देखें।

[कहकर रुब ओट में चली जाती हैं ।]

राजा—सखे! चलो, इससे अपने काम-सन्तप्त हृदय को शान्त करें।

[दोनों समीप जाते हैं ।]

चन्द्रकला—[आश्चर्य से सञ्जित-सी होनी, सहसा उठकर, अपना मुँह
 मोचे किये, हृष से मन हो मन] आश्चर्य! अभी तक जिस जीवन को मैं विप

१. सर्वाः भू०पा०, २. मदनसन्तप्तमात्मानमस्या भू०पा० ।

सानन्दमात्मगतम्] आश्चर्यं, यत्किंलेद जीवितं हलाहलमिति सम्भावितं तदिदानीं कथं महाभागधेयेन अमृतत्वेन परिणतम् । (अम्महे, ज किल एद जीविदं हलाहलमिति सम्भावितं तोदाणीं कथं महाभागधेयेण अमित्ततोणं पणिणदं ।

राजा—^तवैलक्ष्यस्य भवत्यसाववसरो नैतावस्तेऽधुना
किं नामाननचन्द्रमानमयसि प्राणाधिके प्रेयांसि ।
एभिर्गाढमनोज्ञमञ्जुलं गृहैरालिङ्ग्य मामङ्गक-
रणप्रेक्षणि पञ्चबाणविशिष्यक्षीणं विनिर्वापय ॥१८॥

देवी—[रतिकला तिर्यंगवलोक्य] सखि! पुनरपि मह्यं मालपि-

न्तप्तम्—कामपीडितम् । सचकितव्रीडम्—विस्मयेन सञ्जया च सहितम्, नम-
यती—अथ कुवन्ती । जीवितं—जीवन, हलाहलम्—एतन्नामकं विषम्, सम्भा-
वितं—ज्ञातमित्यर्थं, महाभागधेयेन—महानुभावेन स्वामिना, अमृतत्वेन परि-
णतम्—अमृतं निमित्तम्

अधुना—इदानीम्, ते—तव, एतावत्—इत्यपरिमाणस्य, वैलक्ष्यस्य—
लज्जाया, असौ, अवसर—समय, न भवति—नास्ति, प्राणाधिके—
प्राणैर्म्योऽपि गरीयसि । प्रेयसि—प्रियतमे । किं नाम—किमर्थम्, आनन-
चन्द्र—मुखचन्द्रम्, आनमयसि—नोचं करोषि ? एणप्रेक्षणि—मृगनयने ।
पञ्चबाणविशिष्यक्षीणं—मदनबाणं सन्तप्तं, माम् एभि, अनङ्गमञ्जुलगृहै-
मदनसुन्दरनिवासभूतं, अङ्गकं—अवयव, गाढ—दृढं मया स्यात् तथा,
आलिङ्ग्य—परिरम्भ्य, विनिर्वापय—शमय । अत्र शार्बूलविक्रीडितं छन्दः ॥१८॥

तिर्यक्—धृक् यथा स्यात् तथा अवलोक्य—दृष्ट्वा । आलपिष्यति—

समझ रही थी, वही महाराज के द्वारा अमृत में बदल गया ।

राजा—लज्जा करने का यह अवसर नहीं है । हे प्राणों से भी अधिक
प्यारी ! अपना चन्द्रानन नत क्यों कर रही हो ? हे मृगनयनी ! इस समय तो
चाहिए कि तुम काम बाण से पीडित मुझको कामदेव के सुन्दर आवास रूप
इन अंगों से आतिथन करने ज्ञान्ति प्रदान करो ॥१८॥

देवी—[रतिकला पर तिरछी धितवन डालती हुई] सखी!

प्यत्यायं पुत्रः । (हला पुणोबि मं आलविस्सदि अज्जउत्तो ।
 सुनन्दना—सखि ! किमेव प्रतिपद्यसे । कुरुष्व तावदमर्तु^१ वचनम् ।
 (हला कि एवं पडिबज्जसि । करसु दाब मट्ठिणो बअण ।)
 माधविका—भट्टिनि ! शृणुष्व तावत् तव विश्वसनीयाया वचनम्^२ ।
 (भट्टिणि ! सुण दाब तुह विससणीआए बअण ।)
 देवी—चेटि ! कालसर्पी^३ बिल नीलमणिमालारूपेण कण्ठे वसतीति
 को^४ जानाति । (हज्जे^५ ! कालसर्पी किअ नीलमणिमालाश्रवेण
 कण्ठे वसदित्ति को जाणादि ?)
 चन्द्रकला—[सगदगदस्वरम्] सखि ! देवीप्रकोपभीते महाराजे
 अस्माक को विश्वासः ! (हला, देवीपओवभीदे महाराए अम्भाण^६ को
 बिसहो ।)
 देवी—(अहो ! मम प्रियसख्याः प्रियसखीत्वमेतत् ।) अन्वी, महि
 पिअसहीए पिअसहीतुअं एद ।

सम्भाषण करिष्यति । प्रतिपद्यसे—आचरति । अर्तु^१ वचनम्—स्वामिनः आज्ञाम् ।
 विश्वसनीयाया—विश्वासपात्रस्य । कालसर्पी—कालसर्पिणी, नीलमणिमाला-
 रूपेण—नीलमणि (नीलम) -निमित्तमालास्वरूपेण । देवीप्रकोपभीते — देव्याः
 महाराज्ञा प्रकोपेन क्रोधेन भीते तस्ते ।

महाराज मत्ससे फिर भी संलाप करेंगे ?

सुनन्दना—सखी ! यह क्या कह रही हो ? स्वामी की आज्ञा का पालन
 करो ।

माधविका—स्वामिनी ! अपनी विश्वासपात्र का वचन सुनिए ।

देवी—चेटिके ! कौन जानता है कि नीलमणि की माला के रूप में मत्स्य
 में स्थित यह कालसर्पिणी है ।

चन्द्रकला—[गद्गद स्वर में] सखी ! देवी के क्रोध से भयभीत महाराज
 पर हमारा क्या विश्वास है ?

देवी—ओह ! मेरी प्रिय सखी का यह स्नेहशील सोहारा है ?

१. विश्वसनीयावचनं मू० पा० । २. कालसर्पि मू० पा० । ३. को न
 जानाति मू० पा० । ४. हज्जेः मू० पा० । ५. अम्हाणं मू० पा० ।

राजा— प्रेमबन्धनिबद्धा मे न देवी न च मेदिनी ।

इतः प्रभृति तन्वाङ्गि त्वमेव मम जीवितम् ॥१६॥

देवी—[निशम्य साक्षम्] सखि रतिकले ! इदमपि मया सह्यते !
(हृज्जे रदियत्ते, एव पि मए सहेदि)

रतिकला—सखि ! पुरुषाणा अमराणा स्वभाव एषः, यत्किल नव नवमेव अनुधावन्ति । (हला, पुरिसममराणा सुहावो एसो ज किर णव णव एव अनुधावदि ।)

चन्द्रकला—सखि मुनन्दने ! देवी प्रेक्ष्य सर्वं खलु विस्मरिष्यति महाराज । (सखि, सुगदणे, देई पेविज्ज सगं वज्जु विस्समेरिस्सेदि महाराजो ।)

देवी—सखि ! शृणु, तावत् शृणु तावत् । आर्धपुत्रस्य दर्शन-मात्रकेणापि एतस्या दुष्टकन्यकाया ऐश्वर्यानि आलम्बितानि । (हना, सुणेहि दाव सुणेहि । अज्जउत्तस्स दसणमत्तकेण पि एदाए दुद्धकणा-आए एव विहाणि आलपिदाणि ।)

मे —मम, प्रेमबन्धनिबद्धा—प्रेम्ण. बन्धनेन बद्धा, देवी, न—नहि, मेदिनी—पृथ्वी, च, न, तन्वाङ्गि — क्षीणाङ्गि, इतः प्रभृति — इत आरम्भ, त्वमेव, मम, जीवितं—जीवनम्, (असि) । अत्र अनुष्टुप् छन्दः ॥१६॥

निशम्य—श्रुत्वा, साक्षम्—अधुना सहितम् । अनुधावन्ति—पश्चाद वे-गेन गच्छन्ति । आलपितानि—भावगानि । आहारसि—वदसि । अद्य प्रभृति—

राजा—मेरे लिए प्रेम के बन्धन मे बंधी हुई न तो देवी है और न पृथ्वी है सुन्दरी ! आज से तुम ही मेरे प्राण हो ॥१६॥

देवी—[मुनकर आँसू के साथ] सखी रतिकला ! यह भी मुझे सहना पड़ता है ।

रतिकला—सखी ! पुरुषों और मौरों का यह स्वभाव होना है कि वे नये-नये के पीछे दौड़ते रहते हैं ।

चन्द्रकला—सखी मुनन्दाना ! महारानी को देखकर महाराज सब कुछ भूल जाएंगे ।

देवी—सखी ! मुनो, मुनो । आर्धपुत्र के मात्र दर्शन से भी यह दुष्ट

रतिकला—सखि ! एवमेतत् । (सहि एव एद ।)

राजा—प्रिये ! विमेव व्याहरसि^१ । अद्य प्रभृति निदेशवर्ती^२
तवाय जन ।

विदूषक—[सहर्षम्] अम्भहूँ, आश्चर्य यदि एतस्या प्रियवयस्य
आज्ञाकर तत् सर्वा अप्यन्त पुरिण्य आज्ञाकर्य । (अञ्चरिअ, जइ
एदाए पिअवअस्सो अण्णाकरः ता सत्त्वा अपि अदेउरिणिओ अण्णा-
कारिणी ओत्ति ।)

देवी—[सरोयमुपसृत्य] मा राजवयस्य महीग्राहण । अहमपि
एतस्या अज्ञाकरी ? (आ राजवअस्स महावम्हण अह वि एदाए
अण्णाकारिणी ति ।)

[इति पुन पुनरधिक्षिपति]

चन्द्रकला—[सभयोत्कम्पम्] अहो, अहो ! किमिदानीमाप-
तितम् । अम्भो, कि दाणि आपदिद ?

अचारभ्य, निदेशवर्ती—आज्ञाकारी । अ त पुरिण्य — अत्त पुरनिव तिअ ।
राजवयस्य—राज्ञ सखे ! महीग्राहण—भूग्राहण । अधमग्राहणेति यावत्,
अधिक्षिपति—निदति । सभयोत्कम्पम्—भयभूतककम्पनत्त सह । मा मह

रतिकला—सखी ! ऐसा ही होता है ।

राजा—प्रिये ! ऐसा क्यों कहती हो ? आज से मैं तुम्हारा आज्ञाकारी हूँ ।

विदूषक—[हर्ष के साथ] अमों ! आश्चर्य है । यदि आप हमके
आज्ञाकारी हुए तो अत्त पुर की सभी स्त्रियों हमकी आज्ञाकारिणी हुई ।

देवी—[क्रोध के साथ पात जाकर] ओ राजा का पित्र अधम ग्राहण !
मैं भी इसकी आज्ञाकारिणी हुई ?

[कहकर बार बार घिबकाती हैं]

चन्द्रकला—[भय से काँपती हुई] हाय ! यह क्या आ पडा ?

सुनन्दना—[समयोत्कम्पम्] अहो ! किमिदानी करिष्यामि ।
(अम्हों कि दाणि करिम्स ?)

विदूषक—[सोद्वेगम्] भवति ! मा महा कुप्य^१ । (भोदि,
मा अम्हेहि कुप्य ।)

राजा—[सनिर्वेदमात्मगतम्] इदानी खलु चेतनापि मे नात्मनो
वशवदतामवलम्बते ।

देवी—सखि रतिकले ! चेष्टि माधविके ! एष खलु दुष्टब्राह्मण
इय गर्भदासी सुनन्दना द्वे अपि एकेनैव लतापाशेन एकीकृत्य बद्ध-
वा गृह्णाताम् । इय च दुष्टकन्यका आत्मन एवोत्तरीयेण हस्ते
सुदृढम् आपीडयताम् । (हला गदियसे, हज्जे माहविए, एसो क्व
दुठो बम्हणो एदा गम्भदासी सुणदणा दुवे वि एक्केण एव्व लदापासेन
एक्कि की कदुअ बडडा गण्हीत । इअ अ दुठकण्णआ अत्तणो एव्व
ओत्तरीएण हत्ये सुदोड्ढ अप्पोड्ढत ।)

[उभौ तथा कुरुत]

कुप्य—ममोपरि क्रोध मा कुरु । सनिर्वेदम्—दुःखसहितम् । चेतना—सञ्ज्ञा ।
वशवदताम्—अधीनत्वम् । न अवलम्बते—न आश्रयति । उत्तरीयेण—प्रावा-
रेण, आपीडयताम्—बध्यताम् ।

सुनन्दना—[भय से कांपती हुई] हाय ! अब क्या करूंगी ?
विदूषक—[व्याकुलता से] महोदये ! मेरे ऊपर क्रोध न करें ।
राजा—[दुःख के साथ मन में] इस समय मेरी चेतना भी स्वयं मेरे
वश में नहीं है ।

देवी—सखी रतिकला ! दासी मायजिका ! इस दुष्ट ब्राह्मण और
दासीपुत्री सुनन्दना, दोनों को एक ही लतापाश में बाँधो और इस दुष्ट
कन्या के हाथ को इसी की ओढ़नी से बसकर बाँध लो ।

[दोनों उसी प्रकार करती हैं]

विदूषक—आश्चर्यं भाश्चर्यं, कथं बन्धनात् अपि एतस्या गर्भदा-
स्या सुनन्दनाया कठोरस्तनभरेणापीडनं गुरुकं मे अङ्गं बाधते ।

(अच्चरित-अच्चरित, कहूँ बधनादो वि एदाए गम्भदासीए सुणद-
णाए कठोरत्थणभरेण आपीडणं गुरुकं मह अंग बाधेदि ।)

देवी—सखि रतिकले ! चेटी माधविके ! एतानि इदानीमग्रतः
कृत्वा गच्छतम् । (हला रदिले, हज्जे माहवीए, एदाहि दाणि अंग-
दो कटुअ गच्छेहि ।)

[इति राजवर्जं निष्क्रान्ता]

राजा—[सनिर्बेद दीर्घमुच्छ्वस्य]

देव्या प्रेक्ष्य समक्षमन्य^१ वनितासङ्गं ममंतादृश
मानस्त्याजयितुं कथं नु भविता शक्योऽतिभूमिं गत ।

कठोरस्तनभरेण—कठिनयो कुचयो भारेण, आपीडन—पीडा ।

मम, एतादृशम्, अन्यवनितासङ्गम् —अन्यरमणीसहवास, समक्ष-
सम्मुख, प्रेक्ष्य—दृष्ट्वा, देव्या, अतिभूमि—परावृष्टा, गत —प्राप्त ।
मान—अहकारोत्पन्न बोध, त्याजयितुं—दूरीकृतुं, कथं नु—केन प्रकारेण
शक्य, भविता—भविष्यति ? मत्कृते—मदर्थं मुद्या—घृथं, सुहृदा—

विदूषक—आश्चर्यं ! आश्चर्यं ! ! इस गम्भदासी के कठोर स्तन मेरी देह
को बंधन से भी अधिक पीड़ित कर रहे हैं ।

देवी—सखी रतिकला ! और चेटी माधविका ! अब इन्हें आगे आगे से-
कर चलो ।

[राजा भी छोड़कर सभी जाती जाती हैं]

राजा—[दुःख के साथ सखी साँस लेकर]

अब रमणी के साथ मुझे देखकर महारानी का शोच परा बापटा पर पहुँच
गया है । उसकी बँमे हटाया जा सकेगा ? ऐसा लगता है कि विनाश स्वयं

वद्ध वा^१ नीयत वल्लभा च सुहृदा साधं मुधा मत्कृते
निर्गच्छन्निव^२ नाशकोऽपि^३ सहसा तत्किं विधेयं मया ॥२०॥

[विचिन्त्य]

तदलमिदानीमत्र स्थित्वा । पुरमेव प्रविश्योपायं चिन्तयामि ।

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे]

तृतीयोऽङ्कः

मित्रेण, साधं—सह, वल्लभा—प्रिया च, वद्ध्वा, अनियत—दूर
प्राप्यन, नाशकोऽपि—विनाशोऽपि, सहसा—हठात्, निर्गच्छन्निव—नि-
सरन्निव (भाति) तत्, मया, किं, विधेय—कर्तव्यम्, अत्र शाङ्क-
सविक्रीडित छन्दः ॥२०॥

जलं स्थित्वा—अत्र अवस्थानं लोचितमित्यर्थः । अत्र स्थायातोः जलमि-
त्यस्मै योगे 'जलंजल्वो प्रतिषेधयो प्राचा क्त्वा' इति पाणिनिसूत्रेण क्त्वा-
प्रत्ययः ।

कहीं से आकर अचानक उपस्थित हो गया है । मेरे कारण व्यर्थ मे मेरी प्रिय-
तमा मेरे प्रिय मित्र के साथ बौधकर दूर हटा दी गई है । तो अब मुझे क्या
करना चाहिए ? ॥२०॥

[सोचकर]

तो अब यहाँ रुकना व्यर्थ है । महल मे ही चलकर कोई उपाय सोचूँ ।

[सभी चले जाते हैं]

तोसरा अंक समाप्त ॥३॥

१ वद्ध्वा मू० पा० ॥ २ निर्गन्त च मू० पा० । ३ नाशकोऽपि मू० पा० ।

चतुर्थोऽङ्कः

[ततः प्रविशति निर्विण्णो राजा]

राजा—[दीर्घमुच्छ्वस्य^१]

पीतं कर्णपुटद्वयेन गरलं भृङ्गीनिनादाभिधं
प्रालेयांशुकरच्छलासु^२ दहनज्वालासु गात्रं हुतम् ।
भूयो भूय इति स्वयं विदधता^३ नीता मया यामिनी
निर्याताः कथमश्मसारकठिनाः केनापि नैवासवः ॥१॥

आलप्य वञ्चनपरं बहुचाटुगर्भं-

भृङ्गीनिनादाभिधं—अमरोगुञ्जननामकं, गरलं—विष, कर्णपुटद्वयेन—कर्णाभ्यामित्यर्थः, पीतम्—अपायि, प्रालेयांशुकरच्छलासु—प्रालेयांशुकरः चन्द्रकिरणः छलम् मिथः यासां तासु, दहनज्वालासु—अग्निज्वालासु, गात्रं—शरीरं, हुतम्—अहूयत, स्वयम्—आत्मनैव, भूयोभूय—मुहुर्मुहुः, इति—इत्थं, विदधता—दुर्वृत्ता, मया, यामिनी—रात्रिः, नीता—अनीता, अश्मसारकठिनाः—सौहृदत् कठोराः, असवः—प्राणाः, कथं, केनापि, नैव, निर्याताः—निर्गताः । अत्र शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥१॥

बहुचाटुगर्भम्—अनेकचाटुकारिताशब्दपूर्वकं, वञ्चनपरं—करटपूर्णं, (वचनम्) आलप्य—कथयित्वा, चिरं—बिरकाल यावत्, अंघ्रितले—

[इसके बाद दुःखी राजा प्रवेश करता है]

राजा—[लंबी साँस खींचकर] मैंने भीरो के गुंजन रूप विष को अपने कर्णपुटो से लिया और चन्द्रकिरणों के रूप में घषकती हुई अग्निज्वाला में अपने शरीर को होम किया । इस प्रकार स्वयं बार-बार करते हुए मैंने रात्रि यितायी ; किन्तु लोहे के समान कठोर मेरे प्राण बचो नहीं किसी प्रकार निकले, यह आश्चर्य है ॥१॥

करटपूर्णं, मिथ्या प्रशंसा के शब्द बहुवार भी मैं कितनी देर से महारानी

१ दीर्घमुच्छ्वस्य ५० पा० । २ छलासु ५० पा० । ३ विदधता इति पाठान्तरम् ।

मेघ स्थितोऽस्मि चिरमंघ्रितले निपत्य ।

आलोजनेरभिहितापि तथा मदर्थं

देवी कथञ्चन पुननं गता प्रसादम् ॥२॥

[विचिन्त्य सकृण नि श्वस्य आकाशे लक्ष्य वद्ध्वा]

हे दुर्देव यदा चिरस्य भवतो भूयोऽपराद्धं मया

तन्मय्येवमनारत्न प्रहरतो वक्ष्ये न किञ्चित्त्व ।

वद्ध्वाऽङ्गेषु दृढ शिरीषकुसुमप्रायेषु यत् प्रेयसी

नीता जीवितसशयं कथय तत्किं वा कृतं तेऽनया ॥३॥

पादतले, निपत्य—पतित्वा, एषः—अहम्, स्थितोऽस्मि—विद्यमानोऽस्मि, तथा, मदर्थं—मत्कृते, आलोजनं—तस्मीजनं, अभिहितापि—निवेदितापि, देवी, पुनः—मूयः, कथञ्चन—केनापि प्रकारेण, प्रसाद—प्रसन्नता, न गता—न जाता । अत्र वसन्ततिलक छन्दः ॥२॥

हे दुर्देव—हे दुर्भाग्य !, यदा, चिरस्य—विद्यम, मया, भवतः—तव, मूयः—बारं बारम्, अपराद्धम्—अपराधं कृतः, तत्—तस्मात्, मयि, एवम्—इत्थम्, अनारत्न—सतत, प्रहरतः प्रहार कुर्वन्तः, तव न, किञ्चित्, वक्ष्ये—कथयिष्यामि, (किन्तु) यत् प्रेयसी—प्रियतमा, शिरीष-कुसुमप्रायेषु—शिरीषपुष्पवन् कोमलेषु, अङ्गेषु—अवयवेषु, दृढ, वद्ध्वा जीवितसशयं—प्राणसन्देह, नीता—प्रापिता, तत्, कथय—बूझ, अनया—मे प्रेयस्या, ते—तव, किं, वा, कृतं—विहितम् । अत्र शार्दूलविक्रीडितं छन्दः ॥३॥

के धरणो मे नत हूँ । इतना ही नहीं, मेरी ओर से सखियों द्वारा बार-बार निवेदन करने पर भी महारानी पुनः मेरे ऊपर प्रसन्न नहीं हुई ॥२॥

[सोचकर, दुःख की साँस लेकर, आकाश की ओर दृष्टि गड़ाकर]

हे दुर्भाग्य ! जब चिरकाल से मैंने तुम्हारा बार-बार अपराध किया तब जो तुम मुझ पर इस प्रकार सतत प्रहार कर रहे हो, इससे लिए मैं तुमसे कुछ नहीं कहूँगा ; किन्तु मेरी प्रियतमा के शिरीष-पुष्प से कोमल अंगों को दृढ़ता के साथ बाँधकर प्राणों को ही सशय मैं जो दास दिया सो बताओ, उसने तुम्हारा क्या बिगारा ॥३॥

[पुनर्नि श्वस्य सास्त्रम्,] हा वयस्य । त्वमपि मत्कृते जीवित-
मपहारयिष्यसि ।

[ततः प्रविशति विदूषकः]

विदूषकः—[राजान प्रति] स्वस्ति भवते प्रियवयस्याय । (सो-
लिय भोदु पिअवअस्सस्स)

राजा—[विलोक्य सहर्षम्,] दिष्ट्या जीविनि प्रियवयस्यः ।

विदूषकः—भो वयस्य । देवी विज्ञापयति—मम तातस्य नगरात्,
इह वन्दिन समागता । ते इदानीम् आर्यपुत्रसहिताया मम दर्शनसमु-
त्सुका वर्तन्ते । अहमपि सुचिरादधिगतबन्धुकुलवृत्तान्ता श्रोतुमुत्क-
ण्ठिता । तद् यदि रोचते, तदा मया सह अभ्यन्तरस्थानमणिमण्डपे
उपविश्य तेषा वन्दिजनानाम् अवकाश ददातु आर्यपुत्र । (भो व-

सास्त्रम्—अश्रुणा सहितम् । जीवित—प्राणान्, अपहारयिष्यसि—नाशयि-
ष्यसि । स्वस्ति—कल्याणम् । दिष्ट्या—भाग्येन । वन्दिन—स्तुतिपाठका ।
दर्शनसमुत्सुका—दर्शनोत्कण्ठा । सुचिरादधिगतबन्धुकुलवृत्तान्ता—सुचिरात्,
बहुदिनात् पश्चात् अधिगत प्राप्त बन्धुकुलस्य वान्धवाना वृत्तान्त समा-
चार यथा सादृशी, उत्कण्ठिता—समुत्सुका । अभ्यन्तरस्थानमणिमण्डपे—अ-
न्तःपुरस्थितमणिरवचितमण्डपे । अवकाशम्—अवसरम् । दुरपनोदामर्षवशव-

[फिर आह भरकर आँसुओं के साथ] हाय मित्र ! तुम भी मेरे कारण
अपने प्राण त्याग दोगे ?

[इसके बाद विदूषक प्रवेश करता है]

विदूषक—[राजा से] प्रिय मित्र का कल्याण हो ।

राजा—[देखकर हर्ष के साथ] भाग्य से प्रिय मित्र जीवित है ।

विदूषक—मित्र ! देवी घोषणा कर रही हैं — 'मरे पिता के नगर से ब-
दीगण आये हुए हैं । वे आर्यपुत्र के साथ मेरे दर्शन के लिए उरगुप्त हैं । मैं
भी बन्धुकुल का समाचार जानने के लिए बहुत दिनों से उत्कण्ठित हूँ । इत-

अस्स देई विण्णावेदि — 'मह तादस्स णअरादो एत्थ वदिणो समाअदो । ते दाणि अज्जउत्तसहिदाए मह दस्सण सम्मुत्सुकाओ वहेत्ति । अह वि सुइणअहिगद वधुउत्त वत्तात्त सुणिदु उक्कठिआ ह्मि । ता जइ रो-अदि तह मए सह अम्मदरत्त्याणमणिमडवेह उवाट्ठिदाण ताण वदिज-णाण ओआस पदिज्जेइ अज्जउत्तो ति ।)

राजा—[निशम्य सहर्षम्,] सखे^१ तथा दुरपनोदामर्षं^२ वशवदा-या अयमपि^३ मे महाप्रसादो देव्या । तत्कथय कथ नाम बन्धनान्मुक्तो भवान् ?

विदूषक — प्रात्मन एव^३ सुब्राह्मण्यस्य प्रसादेन । (अत्तणो एव सुवम्हणस्स प्पआदेण ।)

राजा—तथापि कथम् ?

विदूषक — कथमिति कथ मन्त्रसिद्धौ ? (कह ति । अले मतसी-हीणा ।)

दाया — दुरपनोदस्य निवारयितुमशक्नोस्य अयमस्य क्रोधस्य वशवदाया अधी-नाया , महाप्रसाद — महान्, अनुग्रह । सुब्राह्मण्यस्य—सद्भिप्रत्वस्य । स्फुट—लिए यदि उचित समझे तो मरे साथ अन्त पुर के मणि मण्डप में बैठकर आ-र्यपुत्र जन विदिजना को दर्शन का अवसर दें ।

राजा—[मुनकर प्रसन्नता से] यह तो महारानी की महती कृपा है , क्योंकि उनके क्रोध का निवारण बड़ा कठिन हो गया था । अच्छा, यह बताओ कि तुम बन्धनमुक्त कैसे हुए ?

विदूषक—अपने ही ब्राह्मणत्व के प्रभाव से ।

राजा—फिर भी कैसे ?

विदूषक—मन्त्र की सिद्धि होने पर कैसे क्या "

राजा—अल परिहासेन । स्फुटं कथय ।

विदूषकः—किमन्यत् ? बन्धुकुलजनागमनहर्षेण तथा अनुचितति-
रस्कृत त्वामेवाद्य आश्वासयितुम् । (किं अण्ण । बन्धुउलजणागम-
णहरिसेण तहा अणुइद तुम्ह एव्व अज्ज आसासदुं ।)

राजा—उचितमेवेदं तथाभिजात्यस्य देव्याः । कः कोऽत्र भोः ?
[प्रविश्य कञ्चुकी]

कञ्चुकी—आज्ञापयतु देवः ।

राजा—कञ्चुकिन् ! निवेद्यताममात्यः—सत्वरमभ्यन्तरस्थानम-
णिमण्डपसज्जीकरणाय निषेधाय च सकलपुरुषाणाम् । आहूयतां च
माघविका ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (यद् आणवेदि देवो) [इति निष्क्रान्तः]

स्पष्टम् । बन्धुकुलजनागमनहर्षेण—बान्धवजनानायायमनजग्याह्लादेन , अनुचि-
ततिरस्कृतम्—अनुचितप्रकारेण अपमानितम् , आश्वासयितुम्—सन्तुष्टयितुम् ।
आभिजात्यस्य—कुलीनतायाः ।

अमात्यः—मन्त्री , निवेद्यता—कथ्यता , सत्वर—शीघ्रम् , अभ्यन्तर-
स्थानमणिमण्डपसज्जीकरणाय—अन्तःपुरवर्तिमणिमण्डपालङ्कारणाय , सकलपु-

राजा—मजाकि मत करो , स्पष्ट बताओ ।

विदूषक—और क्या ? बन्धुजनो के आगमन से उत्सर्ग हर्ष के कारण,
उस प्रकार अनुचित ढंग से अपमानित किये गये आप ही को आज आश्वासन
देने के लिए ।

राजा—यह महारानी की कुलीनता के अनुरूप ही है । यही कीर्ति है जो !

[कञ्चुकी प्रवेश करता है]

कञ्चुकी—आज्ञा दें महाराज ।

राजा—कञ्चुकी ! मन्त्री से कहो कि अभ्यन्तरस्थानमणिमण्डप को तुरन्त सज-
वाएँ और अन्य सभी लोगो का यहाँ जाना रोक दें । और माघ धवा को बु-
लाओ ।

कञ्चुकी—महाराज की जो आज्ञा । [कहकर जात रहे]

[प्रविश्य माघविका]

माघविका—[सप्रणामम्] जयतु जयतु भर्ता । (जेदु जेदु भट्टा ।)

राजा—माघविकेऽवश्यमिदानीं खलु देव्या निदेशेनाभ्यन्तरमणिमण्डप प्रसाधयाम । तदाहूयता तत्रैव देवी ।

माघविका—यदाज्ञापयति भर्ता । (ज आणवेदि भट्टा ।)

[इति निष्क्रान्ता]

राजा—सखे ! तद्दर्शय पन्थान मणिमण्डपस्य ।

विदूषक—एतु एतु प्रियवयस्य । (एदु एदु पिण्ववस्सो ।)

[इत्युभौ परिक्रामत]

विदूषक—पश्यतु, पश्यतु प्रियवयस्य, एष तेऽभ्यन्तरस्थानमणिमण्डपालङ्कृत सोध । (पेक्खदु पेक्खदु पिण्ववस्सो । एसो तुह अब्भदरत्थाणमणिमण्डवालकिदो सोहो ।)

राजा—[विलोक्य सहर्षम्] अये, कथमयम्, —

रूपाणा—समस्तजनानां, निषेधाय—निवारणाय, च । आहूयताम्—प्राकार्य-
ताम् । निवेशेन—आज्ञया, प्रसाधयाम—विमूषयाम । पन्थान—मार्गम् ।
सोध—प्रासाद ।

[माघविका प्रवेश करती है]

माघविका—[प्रणाम करके] महाराज की जय हो ।

राजा—माघविका ! देवी की आज्ञा से अभी मैं निश्चित रूप से अभ्यन्त-
रमणिमण्डप में चलूँगा । देवी को वही बुलाओ ।

माघविका—स्वामी जो आज्ञा दें ।

[कहकर चली जाती है]

राजा—मित्र ! मणिमण्डप का मार्ग बताओ ।

विदूषक—इधर से आएँ मित्र ! इधर से ।

[दोनों चलते हैं]

विदूषक—देखो, देखो प्रियमित्र ! यह है आपका सज्जित अन्तःपुर का
मणिमण्डप ।

राजा—[देखकर प्रसन्नता से] अरे ! कैसे यह —

दीप्तोऽनन्तमणिप्रभाभिरभितः पातालशङ्काकरो
भास्वत्काञ्चनभूभृदञ्चितरुचिर्मूलोक्तुल्याकृतिः ।
आसीनः सुमनश्चयेन सुरभिः स्वर्लोकजातोपम—
स्त्रै लोक्ष्यानुकृतिं तनोति नितरामास्थानसौधो मम ॥४॥

विदूषकः—तत् त्वमिदानीम् एतमाक्रम्य अनुकुरु महेन्द्रत्वम्, (ता
तुमं दार्णि एदं आक्कम्मिअ अणुकरेहि महिदत्तण ।)

[इत्युभौ आरोहणं नाटयतः]

(मम आस्थानसौधः) अभितः—समन्तात्, अनन्तमणिप्रभाभिः—
असंख्यमणिकान्तिभिः, पातालशङ्काकर—पातालभ्रमोत्पादकः (पाताले म-
णिभूयिताः अनन्ताः अनन्तादयो वा नागा निवसन्ति इति श्रूयते), भास्व-
त्काञ्चनभूभृदञ्चितरुचिः—प्रकाशमानस्वर्णगिरेः इव अञ्चिता महतीया
रुचिः कान्तिः यस्य तादृशः (सन्), भूलोकनुल्याकृतिः—पृथ्वीलोकसम-
रूपवान्, सुमनश्चयेन—पुष्परशिना, सुरभिः—सुगन्धिः, आसीनः—
वर्तमानः, मम, आस्थानसौधः—मणिमण्डपप्रासादः, त्रैलोक्यानुकृति-
त्रिलोक्याः अनुकरणं, नितरां—मुतरा, तनोति—विस्तारयति । अत्र शा-
र्दूलविस्तीर्णितं छन्दः ॥४॥

आक्रम्य—आरुह्य, महेन्द्रत्वम्—इन्द्रपदवीम्, अनुकुरु—धारयेत्पर्यः ।

मेरा अन्तःपुर तो पूर्णतः त्रिलोक की समानता धारण कर रहा है—अन-
न्त मणियों का प्रकाश चारों ओर छिटक रहा है जैसे पाताल लोक हो (अन-
न्त मणियों में सर्प-मणि की कल्पना है), भूलोक के समान आकार वाला जैसे
सुमेरु पर्वत ही स्वर्ण-प्रकाश के बहाने चमक रहा है (स्वर्ण के असीम प्रकाश
में सुमेरु-गिरि की कल्पना है) और पुष्परशि की सुगंध से प्रसूत होता है ।
जैसे स्वर्गिक वस्तुओं की सुगंध बिखर रही हो ॥४॥

विदूषक—तो तुम इस पर चढ़कर इन्द्र की समानता प्राप्त करो ।

[कहकर दोनों चढ़ने का नाट्य करते हैं ।]

विदूषक—एत समणिमण्डपस्तम्भमलकरोत् प्रियवयस्य । (एद स माणीमड वत्थव अलकरेदु पिअवअस्सो ।)

राजा—[नाट्येनोपविश्य] सखे ! उपविश तावत् ।

[विदूषक यथोचितमुपविशति]

[ततः प्रविशति सपरिवारा देवी]

देवी—[राजान प्रति] जयत् जयत् आयपुत्र । (जेदु जेदु अय्यउत्तो ।)

राजा—प्रिये ! उपविश तावत् ।

देवी—[यथोचितमुपविश्य] आज्ञापयत्वायंपुत्र मम पितुनंगर-
वन्धिना समागमनाय । (आणवेदु अय्यउत्तो मह पिटुणोणअरवदिण
समागअणाण ।)

राजा—क कोऽय ओ ?

[प्रविश्य कञ्चुकी]

कञ्चुकी—आज्ञापयतु देव ।

धारोहणम्—आक्रमण, नाट्यत—अभिनयत । नाट्येन—नाटकीयतापूर्वकम् ।

विदूषक—प्रियमित्र ! अब इस मण्डप और मण्डप से युक्त महल को
शोभित कीजिए ।

राजा—[बैठने का नाट्य करता हुआ] बैठो मित्र !

[विदूषक उचित रीति से बैठता है]

[इसके बाद परिचारिकाओं समेत महारानी प्रवेश करती है ।]

देवी—[राजा के प्रति] जय हो ! आयपुत्र की जय हो ! !

राजा—प्रिय ! बैठो ।

देवी—[उचित रीति से बैठकर] पितृनगर से आए हुए बदिजनों को
आने के लिए आयपुत्र आज्ञा दें ।

राजा—कौन है यहाँ ?

[कञ्चुकी प्रवेश करने]

कञ्चुकी—महाराज आज्ञा दें ।

राजा—कञ्चुकिन्^१ ! त्वरितं प्रवेशय पाण्ड्यदेशागतो वन्दिनो ।
कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः ।

[इति निष्क्रम्य वन्दिभ्यां सह प्रविशति^२]

वन्दिनो—[राजानं प्रति दूरतः सप्रणामं कराबुद्धमय्य] जयतु-
जयतु देवः । देव, ब्रह्मायुर्मव ।

मूर्द्धव्याधूयमानध्वनदमरघुनीलोलकल्लोलजालो—

दूताम्भः क्षोददम्भात् प्रसममभिनभःक्षिप्तनक्षत्रलक्षम्^३ ।

करी—हस्ती, उन्नमय्य—उपरि कृत्वा । ब्रह्मायुः—ब्रह्मणः सद्गुणम्, आयुः अथवा
ब्रह्मदिनपर्यन्तमावृत्त्यन्तमिति यावत्, आयुः वयः यस्य तदुक्तः ।

मूर्द्धव्याधूयमानध्वनदमरघुनीलोलकल्लोलजालोदूताम्भःक्षोद-
दम्भात्—मूर्धनि मस्तके व्याधूयमाना करीरसञ्चलनेन सञ्चाल्यमाना अतएव
ध्वनन्ती शब्दायमाना या अमरघुनी गङ्गा तस्याः लोलात्, चञ्चलात्, कल्लो-
लजालात्, महातरङ्गसमूहात्, उदूतानामुत्क्षिप्तानाम्, अम्भः क्षोदानां जल-
विन्दूनां दम्भात्, झलात्, अभिनभः—नभसि, प्रसमं—हठात्, क्षिप्त-
नक्षत्रलक्षम्—क्षिप्तं विकीर्णं नक्षत्राणां ताराणां लग्नं समूहो यस्मिन्, ता-
दृशम्, ऊर्ध्वान्यस्ताग्निदण्डभ्रमिभररभसोलघ्नमस्वरप्रवेशघ्रान्तग्रह्या-

राजा—कञ्चुकी ! पाण्ड्यदेश से आये दोनो वन्दिजनों को शीघ्र बुलाओ ।

कञ्चुकी—महाराज की जो आज्ञा ।

[कहकर जाता है और फिर दोनो वन्दिजनों के साथ प्रवेश करता है]

दोनों वन्दी—[राजा के प्रति—दूर से ही प्रणाम सहित हाथों को उठाकर]
जय हो, देव की जय हो ! ! ब्रह्मा की आयु देव को प्राप्त हो ।

पह्ला—गंगा की चञ्चल तरंगमालाएँ जो सिर के ऊपर घूमती रहनी हैं
और उनसे छिन्नित हुए जल-कणों से भालूम पड़ना है, जैसे साराँ तारे
आकाश में फँके जा रहे हों, ऐसी लोभा से युक्त और ऊपर उठे हुए पैर के
धूमने से उत्पन्न प्रचण्ड वायु के चक्कर में जैसे ब्रह्माण्ड ही घूमने लगत है,

ऊर्ध्वं^१ न्यस्तांघ्रिदण्डभ्रमिभर^२ रमसोद्यन्नमस्वेत्^३ प्रवेशः^४ ।
 भ्रान्तब्रह्माण्डखण्ड प्रवितरतु शुभं^५ शाम्भवं ताण्डवं ते ॥५॥
 विश्वस्ताः कटकच्छन्ना मुक्ताहारविभूषणाः ।
 अरोपेऽपि सरोपेऽपि त्वयि देव रिपुस्त्रियः ॥६॥

अपरः—

अलिकुललुहिलकलासे तुह कलवाले गता पलिभिन्ने
 कुलति पिभनुगपेसं निगपलपति पिम्पकेत पाशुपाले ॥७॥
 (अरिकुलरुधिरकराले तव करवाले
 कुलस्त्री पाशुपाले ॥७॥

ण्डखण्डम्—ऊर्ध्वं न्यस्तः उत्तोलितः यः अङ्घ्रिदण्डः चरणदण्डः तस्य या
 भ्रमिः घूर्णनं तस्याः भरेण आतिशय्येन उत्पन्नो यो रमसः वेगः तेन उद्यतं
 उत्पद्यमानो यो नमस्वान् वायुः तस्य प्रवेशेन भ्रान्तं घूर्णितं ब्रह्माण्डखण्डं य-
 स्मिन् तादृशं । शाम्भव—शम्भुसम्बन्धि, ताण्डवम्—उद्धतनृत्यं, ते—भव-
 तः, शुभं—भङ्गल, प्रवितरतु—अर्पयतु । अत्र सम्भराच्छन्दः ॥५॥

देव!—महाराज !, त्वयि—भवति, अरोपेऽपि—अकुपितेऽपि, सरो-
 पेऽपि—कृद्वेऽपि (सति) रिपुस्त्रियः—शत्रुनायकः, कटकच्छन्नाः—क-
 ष्ण्णावृताः, मुक्ताहारविभूषणा—मुक्तामालालङ्कृताः (सत्यः), विश्व-
 स्ताः—विधवाः (भवन्ति) । अत्र अनुष्टुप्छन्दः ॥६॥

अरिकुलरुधिरकराले — अरिकुलानां शत्रुसमूहानां रुधिरेण रक्तेन
 कराले भयङ्करे, तव=ते, करवाले—सङ्गे..... ॥७॥

ऐसी शोभा वाले शकर का ताण्डव नृत्य तुम्हें मगल प्रदान करे ॥५॥

देव! आपके क्रोध और अक्रोध की ओर बिना ध्यान दिये भी स्वर्ण और
 मुक्ता के आभूषणों से युक्त शत्रुओं की स्त्रियाँ तुमसे विधवा हो गयी हैं ॥६॥

दूतरा-शत्रु-समूह के शोणित से भयकर, आपकी तलवार पर..... ॥७॥

१ उर्ध्वं मू० पा० । २ भ्रमिभव मू० पा० । ३ भास्वत् मू० पा० ।

४ प्रवेशत् मू० पा० । ५ शिवं मू० पा० ।

राज्यं मुञ्चति मरहट्ट । कोष कोशलो न पृच्छति । आन्ध्रो^१ वि-
शति गिरिरन्ध्रम् । अङ्गः अङ्गनमपि न पृच्छति । भङ्गः पतति हा-
भङ्गः । वङ्गः सप्ताङ्गं न सज्जयति । पञ्चगौडः^२ पञ्चत्व लभते ।
गुर्जरो न गर्जति । उत्तालतालकरवालः परिपन्थिशतहस्तात् स्थलति
अरिराजमत्तगजसिंहजयिन् , पुण्य भवतु हयवरम् आरोहन् ।

राजा—वन्दिनी ! कुशल पाण्ड्येश्वरस्य ?

वन्दिनी—देवस्य प्रसादेन कुशलेमेव सप्तस्वङ्गेषु नः स्वामिनः ।
किन्वेतदेव दारुणं दुःखमधिगत्य सकलमेव सुखं दुःखमेव मग्नमानो
वर्तते नो भर्ता ।

मरहट्ट.—मरहट्टनरेशः । कोशल.—कोशलपति । आन्ध्र.—आन्ध्रदेशा-
धिपतिः , गिरिरन्ध्रम्—गिरिगुहम् । अङ्गः—अङ्गदेशाधिपतिः , अङ्गनमपि—
राज्यसीमानमपि । हाभङ्ग.—हावङ्गनरेशः । वङ्ग.—वङ्गेश्वरः , सप्ताङ्गं—
राज्यस्य सप्ताङ्गानि—राजा , मन्त्री , मित्र , कोश , राष्ट्र , दुर्ग , सेना इत्या-
ख्यान , न सज्जयति—न सज्जीकरोति । पञ्चत्व—मृत्युम् । उत्तालतालकर-
वालः—मयानकलङ्कः , परिपन्थिशतहस्तात्—शत्रोः क्षमहस्तत् , स्थलति-
पतति । अरिराजमत्तगजसिंहजयिन्—हे महाशत्रुरूपमत्तगजस्य सिंहरूपेण विजेतः ।
पुण्यं—कल्याणं , हयवरम्—अश्वश्रेष्ठम् । दारुणं—भीषणम् , अधिगत्य—प्राप्य ।

मरहट्टराज अपना राज्य त्याग रहे हैं । कोशलनरेश सजाने की चिन्ता
नहीं कर रहे हैं । आन्ध्रनरेश पर्वत की मुफा में प्रवेश कर रहे हैं । अग्ननरेश
राज्यसीमा की इच्छा छोड़ रहे हैं । हावग्ननरेश पतित हो रहे हैं । वगपति अ-
पनी सेना के सप्तागो को नहीं सजा रहे हैं । पञ्चगौडनरेश मृत हो रहे हैं ।
गुर्जरपति गरज नहीं रहे हैं । शत्रु के शक्तिशाली हाथ से मयानक तलवार गिर
रही है । हे महाशत्रु रूपी गजराज को पछाड़ने वाले सिंह ! आपका कल्याण हो
और आप उत्तम अश्व पर आरोहण करें ।

राजा—वन्दियो ! पाण्ड्येश्वर कुशल हैं ?

दोनों वन्दी—महाराज की कृपा से स्वामी सब भाँति कुशल हैं ; किन्तु

देवी—अहो, किन्तु मम तातस्य दारुण दुःखम् ?

वन्दिनी—यत्किल वनविहारावसरे देव्याः समानोदरप्रभा काचि-
कुमारिका केनचिदपहृत्य नीता ।

आभरण भूवनाना कपण निर्माणनैपुण्यस्य विधेः ।

मदन युवनयनाना निवासभवन सुलक्षणाना सा ॥८॥

देवी—[सास्त्रम्] भगिनि ! कुतः पुनर्वर्तसे ? (भगिनि , कुदो
उणवट्टेदिर)

राजा—वन्दिन् ! तदानीमन्विष्यते नैव सा ?

वनविहारावसरे—वने विहरणकाले , समानोदरप्रभा—सहोदरा तुल्यकान्त-
मती च , अपहरण नीता—अपहरणं कृत्वा अन्यत्र प्रापिता ।

सा—तव भगिनी , भुवमाना—चतुर्दशलोकानाम् , आभरणम्—आ-
भूषण , विधेः—विधानुः , निर्माणनैपुण्यस्य—रचनाकौशलस्य , कपणं—
याण . , युवनयनाना—युवकनेत्राणा , मदनम्—आनन्ददायिका , सुलक्षणा-
नाम्,—उत्तमगुणाना , निवासभवनम्—आवासस्थलम् , (आसीत्) ।

अत्र गीतिकाच्छन्दः ॥८॥

भगिनि—हे स्वसः ! । तदानी—तस्मिन् समये । प्रहिताः—प्रेषिताः ,

यही दारुण दुःख पाकर समस्त मुखों को दुःख की भाँति ही हमारे स्वामी मान
रहे हैं ।

देवी—अहो! पिताजी के लिए कौनसा दारुण दुःख है ?

शेनों बन्दी—यही कि वन-विहार के समय देवी की सहोदरा प्रभा नामक
कुमारी किसी के द्वारा हरण कर ली गई ।

वह संसार के लिए भूषण , विधाता की रचनानिपुणता की कसौटी, युव-
कों के नेत्रों को मत्त करने वाली और सुलक्षणों की खान है ॥८॥

देवी—[दास के] बन्दिन ! अब तुम कहाँ हो ?

राजा—बंदी! क्या वह बूढ़ी नहीं जा रही है ?

वन्दिनी—सर्वतः खलु तदन्वेषणाय प्रहिताश्चारद्विजवन्दिनो भवन्ति ।
राजा—तदेतावन्तं कालम् अधिगतो नवान्तरो वृत्तान्त
एतस्याः ।

वन्दिनी—अवधारयतु देवः । अनन्तरमान्ध्रदेशप्रहितैः प्रतिनिवृत्त्या-
स्मत्स्वामिपुरतो विप्रवर्यैः केचित्तम् । एषा किल वनविहारक्रीडा-
वशेन^१ कुतोऽपि संहतिभ्रष्टा एकाकिनी केनचित्शवरेणाधिगत्यान्ध्रदे-
शारण्यवासिने निजस्वामिने समर्पिता ।

देवी—[ससंभ्रमम्] भो भगिनि ! त्वमपि विन्ध्यवासिन्या उप-
हारीभविष्यसि ?

चारद्विजवन्दिनः—चाराः गुप्तचराः द्विजाः ब्राह्मणाः वन्दिनः स्तुतिपाठकाः ;
भर्त्रा—स्वामिना । अनन्तरः—पश्चात्कालीनः । अवधारयतु—शृणुतु ; आन्ध्रदे-
शप्रहितैः—आन्ध्रदेशे प्रेषितैः , प्रतिनिवृत्त्य—परावृत्त्य , अस्मत्स्वामिपुरतः—
अस्माकं स्वामिनः अग्रे , विप्रवर्यैः—द्विजवरैः । वनविहारक्रीडावशेन—वनवि-
हारेणक्रीडामिमांसेन , संहतिभ्रष्टा—समूहात् पृथग्भूता , शवरेण—किरातेन , आ-
न्ध्रदेशारण्यवासिने—आन्ध्रदेशस्थवने निवासं कुर्वन्ते । विन्ध्यवासिन्याः—विन्ध्या-
रण्यस्थितायाः भगवत्याः , उपहारीभविष्यसि—वसिभविष्यसि । शवराधिपेन—

दोनो बन्दी-स्वामी ने सर्वत्र गुप्तचर, ब्राह्मण और बंदियो को उसको बू-
ढने के लिए भेज दिया है ।

राजा—तो इतने समय में पता नहीं लगा कि उसका क्या हुआ ?
देवी—देव ! सुनो—आन्ध्रदेश को भेजे गये ब्राह्मणों ने लौटकर स्वामी
को बताया है कि वह वन-विहार की क्रीडा में सीन हो अपने संहतियों से छूट-
कर झकेंली हो गई और किसी शवर (जंगली मनुष्य) ने लेकर उसे अपने
स्वामी को समर्पित कर दिया ।

देवी—[व्याकुल होकर] बहिन ! क्या तुमभी विन्ध्यवासिनी (देवी) के लिए
उपहार बन जाओगी ?

वन्दिनी—नत शबरधिपेन कृष्णपक्षचतुर्दशीपूजनीयाया विन्ध्य-
वासिन्या समुचिनोऽयमुपहार इति सहर्षमात्मनो निवेशने स्थापिता ।

देवी—[नि श्वस्य सोद्वेगम्] भो भगिनि ! त्वमपि विन्ध्यवा-
सिन्या उपहारोभविष्यसि ? (भगिणि तुम वि विज्झवासिगीए उप-
हारी हुविस्सेदि)

[इति रोदिति]

राजा—वन्दिन् ! कथय ततस्ततः ।

वन्दी—अनन्तर कृष्णपक्षचतुर्दश्या भगवत्या विन्ध्यवासिन्या पुर-
स्तादुपवेश्य उद्यमिननिशिनकरवालैककरेण शबरस्वामिना इनरकरेण
केशेष्वाकृष्य कुररीव मकरुण सोद वेगमुच्चकै रुदन्ती 'कुमारिके !
स्मरैष्टदेवताम्' इतीय भणिता ।

किरातपतिता , कृष्णपक्षचतुर्दशीपूजनीयाया —कृष्णपक्षस्य चतुर्दश्या त्रिथी
पूजा कर्तुं योग्याया , उपहार—नैवेद्यम् , निवेशने—गृहे , स्थापिता—रक्षि-
ता । पुरस्तात्—अग्रे , उद्यमिननिशिनकरवालैककरेण—उद्यमित उत्तमिन
निशिन तीक्ष्ण करवाल खड्ग एकस्मिन् करे येन तादृशेन , केशेष्वाकृष्य—
कुमारिकाया केशान् गृहीत्वेन यावत् , कुररीव—कुररीपक्षिणीव , उच्चकै—
तारस्वरेण , रुदन्ती—क्रुद्धन्ती , भणिता—कथिता ।

दोनों वन्दी—उसके बाद शबर स्वामी ने उसे कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के
द्यवसर पर पूजनीय विन्ध्यवासिनी के लिए उपयुक्त उपहार के रूप में मानकर
हर्ष के साथ अपने घर में रख लिया ।

देवी—[माह भरकर उद्वेग के साथ] बहिन ! तुम भी विन्ध्यवासिनी के
लिए उपहार हो जाओगी ?

[कहकर रोने लगती है]

राजा—वदी ! बहो, उसके बाद क्या हुआ ?

वन्दी—पश्चात् वृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को शबर स्वामी ने एक प्राय से
उसके केशों को और दूसरे में मणी तलवार लिए , उसको विन्ध्यवासिनी के
सामने उपस्थित किया । वह व्याकुल होकर जब कुररी पक्षी की तरह कण्ठ
बन्दन करने लगी तब उसने उससे कहा—'कुमारी ! अपने इष्टदेव का स्मरण
कर' ।

देवी—[सोढ़े ग सास्रम्] हा भगिनि ! अवसानमपि गच्छसि ।
(हा भहिणि, ओसाणपि गच्छेसि ।)

[इति शिरस्ताडयन्^१ उच्चकै रोदिति]

राजा—प्रिये^२ समाश्वसिहि, समाश्वसिहि । पृथ्वा^३मस्तापदुपरि-
तनवृत्तान्तम् ।

देवी—पृच्छत्वायं पुत्र । अहं पुनरात्मनोऽपि न प्रभवामि । (पु-
च्छेदु अव्यउत्तो । अहं उण अत्तओ वि ण पइवमिह ।)

राजा—वन्दिन्^४ कथय ततस्तत् ?

बाधो—ततो यात्राप्रहितस्य तत्र भवतो देवस्य विक्रमाभरणाख्य-
स्य सेनापते केनचिद्विध्यवासिनी दर्शनार्थं गतवता खड्गधारिणा
अनुचरपुरुषेण समालोक्य तं दुरात्मानं शबरस्वामिनं देव्या प्रत्युपा-
यनीकृत्य समानीय सेनापतये निवेदिता । तेन च श्रीमत् साम्राज्या-
धिकृतस्य श्रीमदमात्यमुबुद्धे सम्मुख^५ प्रहितेयमिति कथितमस्मत्स्वा-
मिपुरतो विप्रवर्षः ।

अवसानमपि—समाप्तिमपि मृत्युमिति यावत् । उपरितनवृत्तान्तम्—अ-
प्रिमसमाधारम् । आत्मनोऽपि न प्रभवामि—स्ववशे नास्मि । यात्राप्रहितस्य—
यात्राया प्रचलितस्य, प्रत्युपायनीकृत्य हत्वेति यावत्, निवेदिता—समर्पिता ।
साम्राज्याधिकृतस्य—राज्याधिकारिण, प्रहिता—प्रेषिता । किं प्रतिवक्षम्—

देवी—[व्याकुल होकर अश्रुपूजनयनो से] हाय बहिन् ! तुम मर रही हो !
[सिर पीटती हुई ओर-ओर से रोती है]

राजा—प्रिये^६ घोरज रक्षो, घोरज । इसके आगे का वृत्तान्त पूछता हूँ ।

देवी—पूछिए आर्यपुत्र । मैं वास्तव में अपने वक्ष में नहीं हूँ ।

राजा—वदी ! आगे क्या हुआ ? बताओ ।

दोषो वदी—इसके बाद आपके सेनापति विक्रमाभरण के एक अनुचर ने
जो हाथ में तलवार लेकर विध्यवासिनी के दर्शनार्थं उधर हो गया हुआ था,
उसे देखा और उस दुरात्मा शबर-स्वामी को मारकर राजकुमारों को ला
सेनापति को दे दिया । उस सेनापति ने फिर आपके मुबुद्धि नामक मंत्री को
लाकर समर्पित किया, ऐसा ब्राह्मणों ने हमारे स्वामी को बताया है ।

बेबी—[निःश्वस्य सानन्दम्] वन्दिवर! गृहाणेंदं पारितोषिकम् ।
[इति वन्दिने आभरणानि दत्त्वा] तत् कथय एतं वृत्तान्तं श्रुत्वा किं
प्रतिपन्नं पित्रा । (वंदीअर, गेण्ह एद पालितोसिअं । ता कहेहि ।
एद दुत्तंसं सुणिअ किं पडिवण्णं पितृएण ।)

बंशी—मृणोतु भर्तृदारिका^१ । अनन्तरंचैव^२ निबेद्य प्रहिता वयं
श्रीमत्तश्चरणसन्निधिं पाण्ड्येश्वरेण । एषा खलु सकलभूपासमौलिमणि-
रञ्जितचरणारविन्दस्य मे जामातुश्चित्ररथदेवस्यैवोपिता । तदमा-
त्यस्य गोचरेण सुविहितं विधिना । तदिदं द्विजनिवेदितं यदा च-
वसन्तलेखा अनुजानाति तदा भदनुमतमेव गृह्णातु पाणिमस्या देवः ।

किं कृतम् । भर्तृदारिका—राजकुमारी । सकलभूपासमौलिमणिरञ्जितचर-
णारविन्दस्य—सकलानां भूपासानां राज्ञा मौलिमणिभिः मुकुटमणिभिः रञ्जि-
तो रत्नीकृतो चरणारविन्दो यस्य तादृशस्य । अमात्यस्य—मन्त्रिणः, गोचरेण—
विषयेण संरक्षणेनेति यावत्, विधिना—विधाना, सुविहितं—साधु कृतम् ।
वसन्तलेखा—चित्ररथदेवस्य पत्नी महाराज्ञी, अनुजानाति—अनुज्ञां ददाति,
भदनुमतम्—मया आदिष्टम् अस्यां पाणिं गृह्णातु—अनया विवाहं करोतु ।

बेबी—[आनन्द की साँस लेकर] हे श्रेष्ठ वंशी ! यह पुरस्कार ग्रहण
करो । [कहती हुई वन्दी को आभूषण देकर] बताओ कि पिताजी ने क्या
किया ?

बंशी—सुनिए राजकुमारीजी ! तब पाण्ड्येश्वर के द्वारा हम लोग आपके
चरणों में यह बहकर भेजे गये हैं कि यह कन्या हमारे आमाता चित्ररथदेव
के ही उपयुक्त है, जिनके चरण-वगल समस्त राजाओं के मुकुट मणियों से शोभित
रहते हैं । तो मंत्री (सुबुद्धि) की देख-रेख में उपस्थित कर विवाह ने
ठीक ही किया । अब यदि ब्राह्मणों के इस निवेदन पर वसन्तलेखा अपनी अनु-
मति दे तो मेरी आज्ञा से ही महाराज इससे विवाह कर लें ।

देवी—आर्यपुत्र ! तदिदानीम् अमात्यमेवाकारयित्वा^१ पृच्छतु^२ कुत एषा इति । (अग्यउत्त, ता दाणी अमच्चंएव आकारिअ पु-
च्छदु । कुदो एसा त्ति ।)

राजा—कञ्चुकिन् ! आहूयताममात्यः ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः^३ ।

[इति निष्क्रम्य अमात्येन सह प्रविशति]

अमात्य.—[राजानमवलोक्य] अये, कथमिह महाराजः ।

हरिरिव विबुधाभिनन्दितोऽसौ शिशिरमरीचिरिवाश्रयः कलानाम् ।

तपन इव परा सहप्रतापः शिव इव भूतिविभूषितो विभर्ति ॥६॥

आकारयित्वा—आहूयित्वा ।

विबुधाभिनन्दितः—विबुधैः पण्डितैः (विष्णुपक्षे देवैः) अभिनन्दितः प्रशस्तितः, हरिः इव—विष्णुः इव, कलानाम्—चतु पण्डिकलानाम्, (चन्द्रपक्षे योऽशकलानाम्) शिशिरमरीचिः इव—चन्द्रः इव, सहप्रतापः—प्रतापेन सेजसा सहितः, तपन इव—सूर्य इव, भूतिविभूषितः—भूत्या ऐश्वर्येण (शिवपक्षे भस्मना) विभूषितः अनङ्कृतः, शिव इव—शङ्कर इव, असौ—राजा परा प्राधान्य शोभां वा, विभर्ति—धारयति ॥६॥

देवी—आर्यपुत्र ! मंत्री को बुलाकर पूछिए कि इस समय वह कुमारी कहाँ है ?

राजा—कञ्चुकी ! मंत्री को बुलाओ ।

कञ्चुकी—महाराज की जैसी आज्ञा ।

[ऐसा कहकर चला जाता है और पुनः मंत्री के साथ प्रवेश करता है]

मंत्री—[राजा को देखकर] अहो, महाराज यहाँ क्यों ?

मे तो विबुधो (विद्वानो) द्वारा अभिनन्दित विष्णु के समान, कलाओं (गुणो) के आश्रय शीतरश्मि चन्द्रमा के समान, प्रताप (शौर्य-प्रताप) से युक्त सूर्य के समान तथा भूति (ऐश्वर्य) से विभूषित शिव के समान शोभा को धारण कर रहे हैं ॥६॥

१ अमात्य एवाकारयित्वा मू० पा० । २ पृच्छतु मू० पा० । ३ देव मू०

पा० ।

[दूरतः सप्रणायम्] अयतु अयतु देवः ।

राजा—सुबुद्धे ! अलमनेन अन्तरङ्गस्य मृतस्य भवतोऽपसरणेन । तदेह्येहि । इत एवोपविश तावत् ।

अमात्य —[सविनयमुपसृत्य यथोचितमुपविशति]

राजा—सुबुद्धे ! कथयतु कुत एषा कन्यका या खलु विक्रमाभरणेन ते प्रेषिता ?

अमात्य —देव ! कथं नाम स्वामिनोऽपि सम्मुखे वितयालाप ! तदवधारयतु, देव । इयं तु गुणाधिकारलक्षणं रत्नन्यरूपेत्याकलस्य तत्काले व, —

मस्तु भूमिपतिर्भूमौ पाणिमस्या ग्रहीष्यति^१ ।

तदमीः स्वयमुपागत्य वरमस्मै प्रदास्यति ॥

इत्यमानुषा^२ गिरमाकर्ण्य स्वामिने देया^३ परिणायनीयेत्याकाङ्क्ष-

अन्तरङ्गस्य मृतस्य—अतिनिकटवर्तिन परमात्मीयस्येत्यर्थः, अपसरणेन—दूरोपवेशनेनेत्यर्थः । वितयालाप—असत्यभाषणम् । अवधारयतु—शृणोतु । गुणाधिकारलक्षणं—अनन्यरूपा—सर्वगुणसम्पन्ना सुलक्षणा अनुपमसुन्दरी च, आकलस्य—विचार्य । अमानुषा गिरम्—आकाशवाणीम्, आकर्ण्य—श्रुत्वा,

[दूर से प्रणाम सहित, देव की जय हो, जय हो]

राजा—सुबुद्धि ! तुम हमारे परम अन्तरंग हो, इसलिए दूर जाकर बैठना ठीक नहीं । आओ, यही बैठो ।

मंत्री—[नम्रता पूर्वक निकट आकर बैठता है]

राजा—सुबुद्धि ! बताओ, वह कन्या कहां है, जिसे विक्रमाभरण ने तुम्हारे पास भेजा था ।

मंत्री—देव ! स्वामी से असत्य क्यों कहूँ ? सुनो देव ! यह अलौकिक गुणों से युक्त अनुपम सुन्दरी है—ऐसा सोचकर और उसी समय—

पृथ्वी पर का जो भी राजा इसका पाणिग्रहण करेगा उसके लिए लक्ष्मी स्वयं आकर वर प्रदान करेगी ।

—यह आकाशवाणी सुनकर स्वामी को दे दू और उनसे विवाह करा दू

१ ग्रहीष्यति मू० पा० । २ प्रदास्यतीत्यमानुषा मू० पा० । ३ देयं मू० पा० ।

यभागेन^१ देवी प्रकोपभीरुणा च स्वयमशक्नुवता^२ च मया मम वश-
जेय सखीपदे स्थापनीयेति देव्या समर्पिता, तथा चान्त पुरचारिणी
मिमामवलोक्य स्वयमेव परिणेष्यति महाराज इति ।

[राजा देव्या मुखमवलोकयति]

देवी—आर्यपुत्र ! या किल एतेन समर्पिता संवेपा । पृच्छ^३ ता-
वत् चन्दिन किनामधेया सा मे भगिनीति । (अव्यउत्त, जा किर
एदेण समर्पिता सा एव एसेति पुच्छ दाव व दिण कि नामवेभा एता
मह भहिणि ति ।)

राजा—वन्दिन् ! किनामधेया सा पाण्ड्येश्वरस्य दुहिता ?

वन्दी—देव ! चन्द्रकलेति ।

राजा—[निशम्य सानन्द स्वतगम्] मम प्रियामा चन्द्रकलैव । -
[विचिन्त्य] सत्यमेतत् ।

परिणायनीया-विवाहयितव्या, देवीप्रकोपभीरुणा-देव्या । महाराज्या प्रको-
पात् क्रोधात् भीरुणा बिभ्यता, वशज्ञा—कुलोत्पन्ना, देव्या समर्पिता—देव्यै
दत्ता । अत्र सम्बन्धमात्रविषयमा यच्छी । अन्त पुरचारिणीम्—अन्त-पुरे द-
त्तस्ततो गच्छतीम्, परिणेष्यति—विवाह करिष्यति ।

इस इच्छा से, देवी के भय स भीरु स्वय को असमर्थ जानकर मेरे वश की
है कहकर सखी रूप मे प्रतिष्ठित करके रखने के लिए देवी को सौंप दिया, जिस
से अन्त पुर मे रहते हुए इसे देखकर महाराज स्वय ही परिणय कर लेंगे ।

[राजा देवी का मुख देखता है]

देवी—आर्यपुत्र ! जो इन्होंने समर्पित की थी, वही यह क्या है । वदी
से पूछें कि मेरी बहिन का क्या नाम है ।

राजा—वदी ! पाण्ड्येश्वर की उस पुत्री का क्या नाम है ?

वन्दी—महाराज ! चन्द्रकला (नाम है) ।

राजा—[सुनकर आनन्द के साथ अपने मन मे] मेरी प्रियतमा ही
चन्द्रकला हैं । [सोचकर] यह सत्य है कि -

कनक मणिगणसचिव घनसारो वासित कुसुमै ।

द्राक्षामृतेन सिक्ता चन्द्रकलाया कुले जनिर्महति ॥१०॥

देवी—[निश्चय्य स्वगतम्,] अहो, किं खलु मणिष्यति मे तथा निष्ठाणानि आचरितानि श्रुत्वा मातापितरौ । [प्रकाशम्,] आर्य-पुत्र ! तदिदानीम् एतयो पुरो दर्शयित्वा ज्ञातव्यं या मम अमात्येन समर्पिता एषा सा नवेति । (अहो, किं खलु मणिस्सदि महं तद्वा नि-गिष्ठापि आचरिदाहं सुनिष्ठं जणमा । अय्यउत्त, ता दाणि एदयो पुरो दसिअ जाणव्व जा महं अमच्चेण समर्पिदा एसा सा ण वेत्ति ।)

राजा—यद्वोचते भवत्यै ।

कनक—सुवर्णं, मणिगणसचिव—मणिगणं रत्नसमूहः सचिव जटित (सत् अधिक शोभने), घनसार—कर्पूरः, कुसुमै—पुष्पैः, वासित—सुगन्धित (सतः अधिक शोभते), द्राक्षा—गृद्धीका, अमृतेन—सुधया, सिक्ता—क्षरिता (सती अधिक शोभते), चन्द्रकलाया, जनि—जन्म, महति कुले—उच्चवर्ग्ये (अधिक शोभते) ॥१०॥

निश्चय्य—श्रुत्वा । मणिष्यति—कथयिष्यति । निष्ठाणानि—निर्देशानि, आचरितानि—आचरणानि । एतयो—वदिनो, पुर—अग्रे । यद्वोचते भवत्यै—भवती यया प्रसीदतीत्यर्थः । अत्र 'हृदयार्थानां प्रीयमाण' इति सूत्रेण चतुर्थी ।

जैसे सोना मणियों से जड़ा जाने पर, कर्पूर पुष्पों से सुवासित किया जाने पर और द्राक्षा (अमूर) अमृत से सिक्ता होने पर अधिक शोभित होती है इसी तरह चन्द्रकला उच्च कुल में जन्म पाकर अधिक शोभित हुई ॥१०॥

देवी—[मुनकर मन मे] हाय ! मेरे निर्दयतापूर्ण कार्यों को सुनकर माता पिता क्या कहेंगे ? [प्रकट] आर्यपुत्र ! तो अब इन दोनों के सामने उसे उपस्थित करके जान लेना चाहिए कि मंत्री द्वारा समर्पित की गई पुवती यही है अथवा नहीं ।

राजा—जो आपको बचे ।

देवी—[जनान्तिकम्] सखि रतिकले । तदिदानी त्वं त्वरित
गत्वा बन्धनाभ्योचयित्वा सज्जीकृत्वा सह सुनन्दनया अत्र आनय
चन्द्रकलाम् । (हला, रदिअले, ता दाणि तुम तुवरिद गदुअ व धणा-
दो भुविकय सज्जिअ सह सुणदणाए एत्थ आणेहि चदअला ।)

रतिकला—यदाज्ञापयति प्रियसखी । (ज आणवेदि पिअसही ।)

[इति निष्क्रम्य समलङ्कृता सुनन्दनाद्वितीया चन्द्रकलामादाय
प्रविशति]

राजा—[विलोक्य सानन्द सस्पृह स्वगतम्]

पञ्चधाणविजयाधिदेयता लोकलोचनचकोरचन्द्रिका ।

सृष्टिरद्भुतकरीयमीदृशी निर्मिता कथमिव प्रजासृजा ॥११॥

सज्जीकृत्वा—विभूष्य । सुनन्दनाद्वितीया—सह सुनन्दनयेत्यर्थः ।

पञ्चधाणविजयाधिदेवता—कामदेवविजेत्री देवी इव, लोकलोचनचको-
रचन्द्रिका—लोकाना जनाना लोचनानि नेत्राणि एव चकोराः चकोरपक्षिणः
तेषां कृते चन्द्रिका ज्योत्स्ना (इव), इय—चन्द्रकला, ईदृशी, अद्भुत-
करी—आश्चर्यकरी, सृष्टि.—रचना, प्रजासृजा—विधात्रा, कथमिव,
निर्मिता—रचिता । अत्र रघोदत्ताच्छन्दः ॥११॥

देवी—[कान मे] सखी रतिकला ! त्वं शीघ्र जाओ और बन्धन से
मुक्त करके सजाकर सुनन्दना के साथ चन्द्रकला को ले आओ ।

रतिकला—प्रियसखी की जैसी आज्ञा ।

[कहकर चली जाती है, पुनः सज्जित चन्द्रकला को सुनन्दना के साथ
लेकर प्रवेश करती है ।]

राजा—[देखकर आनन्दित हो उत्सुकता पूर्वक मन में]

इस युवती को ब्रह्मा ने किस प्रकार रचा—यह तो कामदेव की विजय की
अधिष्ठात्री देवी-सी, लोगों के नेत्र चकोर के लिए चन्द्रमा की भाँति और घरती
की अद्भुत रचना सी है ॥११॥

चन्द्रिका—[विलोक्य सानन्द साक्षम्] सान्तः पुरस्य पाण्ड्येश्वरस्य भाग्योदयेन समागतासि नौ नयनगोचरम् ।

चन्द्रिका—[विलोक्य वाष्पमुत्सृजति]

देवी—[उत्थाय निविड परिष्वज्य] समाश्वसिहि भगिनि, समाश्वसिहि । अतिनिर्दयया मया अकारण परिपीडितासि । (समास्ससिहि भगिनि समास्ससिहि । अदिनिर्दिष्टा ए मए अकालण पलिपीडितस्सि ।)

[इत्युभे वाष्पमुत्सृजत]

देवी—[स्वगतम्] अलमिदानी मम पुनरपि तथा कठोरेण व्यवसितेन । स्वयमेव मया आर्यपुत्राय समर्पयितव्या एषा । एव खलु आत्मनो महत्त्वसम्पादन मातापितोरपि काङ्क्षितसाधनम् । तथा कद्विषिताया भगिन्या आश्वासन, भर्तुर्जीवितसशयात्परिरक्षण, परम-

सान्त पुरस्य—अन्त पुरनिवासिनीसहितस्य, नयनगोचरम्—दृष्टिपथम् । वाष्पमुत्सृजति—रोदति । निविड—गाढम्, परिष्वज्य—आलिङ्ग्य । अतिनिर्दयया—अतिनिर्दयया, परिपीडितासि—क्लेशितासि । व्यवसितेन—कार्येण । महत्त्वसम्पादन—गौरववर्धनं, काङ्क्षितसाधनम्—इच्छापूर्ति । कद्विषिताया—परिपीडिताया, आश्वासन—सान्त्वनम्, जीवितसशयात्—

दोनो बन्दी—[देखकर आनन्दाश्रु सहित] अन्त पुरवासिनी तथा पाण्ड्येश्वर के भाग्य से तुम हम दोनों को दृष्टिगत हुई ।

चन्द्रिका—[देखकर आँसू बहाती है]

देवी—[उठकर उसका गाढ आलिङ्गन करके] धीरज रखो बहिन ! धीरज रखो । अत्यन्त निर्दया मेरे अकारण तुम्हें पीड़ित किया ।

[कहकर दोनों आँसू बहाती हैं]

देवी—[मन में] अब मुझे पुनः वैसा कठोर व्यवहार नहीं करना चाहिए । बल्कि मुझे स्वयं ही इसे आर्यपुत्र को समर्पित कर देना चाहिए । इस प्रकार मेरा महत्त्व बढ़ेगा और माता-पिता की इच्छा पूर्ण होगी । उस प्रकार पीड़ित की गर्द बहिन को सान्त्वना मिलेगी, स्वामी के प्राणों की रक्षा होगी

लक्ष्मीसम्पादन च भवन्ति । [इति चन्द्रकला करे गृहीत्वा प्रकाशम्] आयं पुत्र ! श्वशुरयोर्ममापि अनुमत्या करे इदानीं गृहाण एनाम् । (अल दारिण मह पुणोव्वि तथा कठोरैण वजसिदेण ता सुअ एव्व मए अय्यपुत्तस्स समप्पिदव्वा एसा । एव्व वस्तु अत्तणो मह-त्तणसंवादण मादापिदराण कव्विदसाण ताए कदत्थिदाए भगिणीए आसासण भत्तुणो जीइदससआदो पत्तिरक्खण परमसन्धी सआदण अ होन्ति । अय्यउत्त , मादापिदरा मह पि अणुमदीए करे दारिण गेण्ह एदा ।)

[इति राज्ञे समर्पयति]

राजा—[सहर्षम्] अहो महाप्रसादो देव्याः । [इति चन्द्रकला करे गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति]

[नेपथ्ये शङ्खध्वनिः , सर्वतो दुन्दुभिःशब्दः]

वन्धिनौ—जयतु जयतु देवः । दिष्ट्या चन्द्रकलापाणिग्रहणेन स-
र्वथाऽनुगृहीतः पाण्ड्येश्वरो देवेन ।

राजा—[सर्वतो विभाव्य आश्चर्यम्] अये , कयमिदानीम्—

माणसन्वेहात् , परमलक्ष्मीसम्पादनम्—महालक्ष्मीप्राप्तिः । अनुमत्या—अनुरो-
धेन , एना—चन्द्रकला , गृहाण—स्वीकुरु । महाप्रसाद—महाननुग्रहः ।

शोर महालक्ष्मी प्राप्त होगी । [चन्द्रकला को हाथ से पकड़कर प्रकट रूप से]-
आयं पुत्र ! आप अपने सास-ससुर तथा मेरी अनुमति से इसको स्वीकार की
जिए ।

[कहकर राजा को समर्पित करती है]

राजा—[हर्ष के साथ] अहा ! देवी की बड़ी कृपा है [कहता हुआ
चन्द्रकला को हाथ से पकड़कर स्पर्श करने का नाट्य करता है]

नेपथ्य में शङ्खध्वनि होती है और चारों ओर नगाड़े का शब्द सुनाई
पड़ता है]

दोनों वन्धी—जय हो, महाराज की जय हो । आग्रह से आपने चन्द्रकला
का पाणिग्रहण करके पाण्ड्येश्वर को अनुगृहीत कर दिया ।

राजा—[सब ओर आश्चर्यपूर्वक देखकर] अरे ! इस समय वैसे—

दृश्यन्ते द्युतयोगि विद्युन् इव श्रूयन्त एतानि च
 आम्बद्भृङ्गरानि कङ्कगजगन्धारेण मिथ्याग्रहो ।
 अभ्येति द्विगुण्डमम्बगलदानाम्बुल्लालिनी—

गन्धेन द्विगुणीकृत परिमल पायोऽह्नागामपि ॥१२॥

अमात्य —देवदेव ! अहमेव मन्ये इदानीं मनु समदकरिकुलक-
 लिनकनककनकगमुत्रिगनदशिरनीयराभिरामिच्यमाना कर-

द्युतयोगि-प्रनाशा भवि, विद्युन् इव—चडिन् इव, दृश्यन्ते-प्रश्लो-
 षयन्ते, एतानि कङ्कगजगन्धारेण-कङ्कगजगन्धेन, मिथ्याग्रि-शिविद्वानि,
 आम्बद्भृङ्गरानि—आम्बना मञ्जरना भृङ्गागा प्रमरागा रानानि गन्धाः,
 अहो—आश्चर्यं, श्रूयन्ते—आकर्षणे, द्विगुण्डमम्बगलदानाम्बुल्लालिनी-
 ल्लोलिनीगन्धेन-द्विगुणा गजाना गण्डमण्डनान् गण्डम्बवान् गजनां श्वरतां
 दानाम्बुना मवाना वस्त्रोलिप्ता नद्याः गन्धेन द्विगुणीकृत पायोऽह्नागा-
 मपि—रमलानामपि, परिमल—पुष्प-र, अभ्येति—पर्वत- प्रसरति ।
 अत्र शार्दूलवित्रीद्विज छन्द ॥१२॥

देवदेव—राजाधिराज !, समदकरिकुलकलिनकनककनकगमुत्रिगलदशिर-
 नीयपधारामि—ममदैः ममदत्तं करिकुलं हस्तिवृन्दं कलिनाना धारिणानां
 कनककलगाना स्वर्णघटाना मुखे विमल-नीमि शरणीमिः अविरत्नाभि- सा-
 श्रामि. पीयूषधारामि अप्रप्रवाहे, आभिच्यमाना—विपश्यमाना, करक-

प्रकाश भी दिवली की तरह दिखाई दे रहा है, अहो ! यह कर्णों की
 झनकार से मिश्रित होकर विवरणशील भौंरों का गूजन सुनाई पड़ रहा है ;
 (फिर) हाथियों के गडस्थल से बहते हुए मद की नदियों से द्विगुणित होकर
 कमल की सुगंध बिखर रही है ॥१२॥

मंत्री—देवदेव (सम्राट) ! मुझको प्रतीत होता है कि त्रिलोक-सा-
 आज्य की लक्ष्मीं स्वयं, सुलक्षणों से युक्त चन्द्रकला का पाणिग्रहण करने के
 कारण आपके पास, हर्षित होकर, मदयुक्त हाथिया द्वारा पकड़े गये सुन्दर-
 स्वर्णकलश के मुख से सतत प्रवाहित सुधाधार से अभिषिक्त होती, सुन्दर

कसितकमलपरिमलमिलदलिपटलक्षकारमुखरिताशान्तरा प्रणयप्रण-
तनिखिलसुरासुरमुकुटतटघटितमणिगणकिरणकिर्मीरितचरणनखरा भ-
गवन्मुकुन्दहृदयानन्दसन्दीहकन्दलीकन्दभूता दलितकमलदललोचना
अपाङ्गतरङ्गविश्राणनाय^१ त्रिभुवनसाम्राज्यलक्ष्मीः साक्षादभ्युपैति
भवन्तमस्याः सुलक्षणायाः पारग्रहानन्दवशवदेति ।

नितकमलपरिमलमिलदलिपटलक्षकारमुखरिताशान्तरा—बरे हरे कसितस्य
धृतस्य कमलस्य परिमलेन सुगन्धेन मिलतः सगतस्य अतिपटलस्य भ्रमरसमूह-
स्य लक्षारेण गुञ्जनेन मुखरित निनादितम्, आशा-तर दिशामध्य यथा सा-
दृशी, प्रणयप्रणतनिखिलसुरासुरमुकुटतटघटितमणिगणकिरणकिर्मीरितचरण-
नखरा—प्रणयेन प्रेम्णा प्रणताना नताना निखिलसुरासुराणां समस्तदेवदान-
वानां मुकुटतरपुं किरीटप्रा-तेषु घटिताना ज्वलिताना मणिगणना रत्नसमूहानां
किरणैः कान्तिभिः किर्मीरित, चरणनखरः कर्चुरितः चरणनखरः पादनखः
मस्याः सादृशी, भगवन्मुकुन्दहृदयानन्दसन्दीहकन्दलीकन्दभूता—भगवतः मुकु-
न्दस्य विष्ण्याः हृदये चित्ते ये आनन्दाः प्रमोदाः तथा सन्दीहः समूहः एव क-
न्दमी सूपविशेषः तस्याः कन्दभूता मूलभूता, दलितकमलदललोचना—दलित-
कमलदले विदलितकमलपत्रे एव लोचने यस्याः सादृशी, स.शात्, त्रिभु-
वनसाम्राज्यलक्ष्मीः—त्रिलोकीसाम्राज्यलक्ष्मीः, अस्याः, सुलक्षणायाः—सुलक्षण-
सम्पन्नायाः, पारग्रहानन्दवशवदा—विवाहव्यानन्दवर्धना (भूत्वा) अपाङ्गतरङ्ग-
विश्राणनाय—हृपावटाक्षदाशाय, भवन्त—त्वाम्, अभ्युपैति—आगच्छति ।

हाथो में धारण विये हुए कमल की सुगन्धि से आकृष्ट भ्रमरदल के गुजार से
दिशाओं की मुखरित करती, सबल सुरासुर के मुकुटसहित मणियों के
प्रकाश से शोभित चरणोवाली, जो भगवान् विष्णु के हृदय में सनिहित आ-
नन्द रूपी वृक्ष की मधुरता के समान है, हम सब को आनन्द वितरित करने
के लिए खसी आ रही हैं ।

१ आपाङ्गतरङ्गविश्राणनाय मू० पा० ।

[सर्वे निशम्य सन्वरमुत्तिष्ठन्ति । ततः प्रविशति परितःश्वामरे-
रूपवीज्यमाना ययानिर्दिष्टा लक्ष्मीः]

राजा—[विलोम्य सानन्दम्] भगवति ! कृतार्थोऽस्मि ।

[इति^१ पादयोः पतति]

लक्ष्मी—उत्तिष्ठ वत्स ! चन्द्रकलापरिग्रहेण प्रसन्नाहमिह ते
साक्षात्कारं तदभिमनमात्मनो वर वृणीष्व ।

राजा—[उत्थाय साञ्जलिवद्धम्]

साक्षात्कारफलं तव प्रणिगदेत्को वा मुकुन्दप्रिये

मातयेषु कृपामयो निवर्तन्ति क्रीडाकटाक्षोऽपि ते ।

परितः—सर्वे , श्वामरे—श्वामरान् , उरवीज्यमाना—विज्यमाना ,
ययानिर्दिष्टा—उरविर्वाणिता । कृतार्थं—कृतकृत्य । साक्षात्कारम्—दर्शनम् ,
अभिमनम्—अभीष्टम् ।

मुकुन्दप्रिये—हरिपति ! , तव—भवयाः , साक्षात्कारफलं—दर्शन-
फलं , को वा—जन , प्रणिगदेत्—कथयेत् ? मातृ—जननि ! , येषु—
जनेषु , ते , कृपामय—दयानु , क्रीडाकटाक्षोऽपि—क्रीडापाङ्गवीक्षणमपि ।
निवर्तन्ति, तेषां, भवनद्वाराङ्गगणयोग—गृहद्वाराङ्गणमुख , क्षणेन—तत्-
कालम् , उन्मददिङ्मतङ्गजघटाघञ्छारवाडम्बरं—उन्मदना मत्ताना दि-

[सप्तो सुतकर शीघ्रं उड जाते हैं । तब ऊपर वर्णित रूप में लक्ष्मी ,
जिन पर चारों ओर स चँवर डुनाया जा रहा हो , प्रवेश करती हैं]

राजा—[देखकर प्रसन्ना से] भगवती ! कृतार्थ हूँ ।

[कहकर चरणों पर बिछा है]

लक्ष्मी—उठो वत्स ! उठो । चन्द्रकला के पाणिग्रहण से मैं प्रसन्न हूँ और
तुमको दर्शन दे रही हूँ । अभीष्ट वर माँगो ।

राजा—[उठकर हाथों को ओढ़े हुए]

हे विजयपत्नी ! तुम्हारे साक्षात्कार के फल-लाभ को कौन कह सकता

तेषामुन्मददिह मृतङ्गजघटाघण्टारवाहम्बरै -

जायन्ते मुखरा क्षणेन भवनद्वाराङ्गणक्षोणयः ॥१३॥

तथापि किञ्चित् ब्रवीमि—

आचन्द्रतारकं मात-

र्मा विमुञ्च कुलं मम ।

भूयादविरत भक्ति-

स्त्वयि मेऽध्यभिचारिणी ॥१४॥

लक्ष्मीः—एवमस्तु । किं ते भूयः प्रियमुपहरामि ?

राजा—भगवति ,

मृतङ्गजघटाघण्टारवाहम्बरै दिग्गजानां घटानां समूहानां घण्टारवाणां घण्टाशब्दानाम् आ-
हम्बरैः आटोपैः, मुखराः—शब्दायमानाः, जायन्ते—भवन्ति । अत्र शाङ्ख-
विह्वलित छन्दः ॥१३॥

मातः—जननि ! , मम—मे , कुल — वंशम् , आचन्द्रतारक—
यावच्छग्री नक्षत्राणि च व्योम्नि सिंहेयुस्तावत्कालपर्यन्तमित्यर्थः , मा—
महि , विमुञ्च—त्यज । त्वयि—भवत्या , मे—मम , अध्यभिचारिणी—
ऐकान्तिकी , भक्तिः—श्रद्धाभावः , अविरत—निरन्तर , भूयात्—भ-
वतु । अत्र अनुष्टुप् छन्दः ॥१४॥

हैं ? माता ! तुम्हारी कृपामयी दृष्टि जिनके ऊपर पड़ जाती है , उनके
भवनो के द्वार और जागत की भूमि तत्काल भदमत्त दिग्गजों के घटा-
शब्दों के विस्तार से मुखरित हो उठती है ॥१३॥

तो भी कुछ निवेदन कर रहा हूँ —

माता ! जब तक चन्द्रमा और तारे (आकाश मे) रहें तब तक
तुम मेरे कुल को न छोड़ना और तुममे मेरी अविचल भक्ति सदा बनी
रहे ॥१४॥

लक्ष्मी—ऐसा ही हो । और कौन सा तुम्हारा प्रिय कार्य करे ?

राजा—भगवती !

देवीयमेव गदिता प्रसादमासादिता प्राणसमा प्रिया मे ।
त्वमिन्दिरे मन्दिरसश्रितासि प्रिय पुनर्मे किमत पर स्यात् ॥१५॥
तथापीदमस्तु

राजान सुतनिर्विशेषमखिला पश्यन्तु नित्य प्रजा
जीयासु सदसद्विवेकपटव सन्तो गुणग्राहिण ।

शस्यस्वर्णसमृद्धय समधिका सन्तु स्थिरामण्डले
भूयादव्यभिचारिणी त्रिजगतो भक्तिश्च नारायणे ॥१६॥

इय, देवी-महाराज्ञी, एवम्,—इत्य, प्रसाद-प्रसन्नता, गदिता-गता,
मे, प्राणसमा—प्राणतुल्या, प्रिया-कान्ता, आसादिता—प्राप्ता, त्वम्,
मन्दिरसश्रितासि—मदिरे भवने सश्रितामि विराजमानासि, इन्दिरे—सदिने,
अत परम्,—अस्मात् अधिक, पुन—भूय, मे कि प्रियम्—अभीष्टं
स्यात्—भवेत्, अत्र उपजातिच्छन्द ॥१५॥

अखिला—समस्ता, राजान—भूपा, नित्य—सर्वदैव प्रजा—
जनान्, सुतनिर्विशेष पश्यन्तु—पुत्रवत्, पालयतिवत्यर्थं । सदसद्विवेकप-
टव—सदसद्विवेके पटव समया गुणग्राहिणश्च सन्न (जना) जीयासु—
सर्वोत्कर्षेण धर्तव्यम् । स्थिरामण्डले—भूमण्डले समधिका—अतिशया
शस्यस्वर्णसमृद्धय—सत्त्वाना धावाना स्वर्णाना धनानाञ्च समृद्धय वृद्धय,
सन्तु—भवतु । त्रिजगत—त्रिजगद्वासिनो जनस्य, नारायण—विष्णो, अव्य
भिचारिणी—चिरस्थायिनी, भक्तिश्च, भूयात्,—अत्र शादूलविक्रीडित
छन्द ॥१६॥

ये महारानी प्रसन्न हो गई, प्राणों के समान प्रिया मुझ मिल गई और
आप स्वयं मेरे महल में विराजमान हैं । इन्दिरे ! इससे बढ़कर और कौन सा
मेरा प्रिय हो सकता है ? ॥१५॥

तो भी यह हो—

सभी राजा पुत्रवत् प्रजाओं का नित्य पालन करें । प्रजायें सत कोर असत
का विवेक करने में पटु तथा गुणग्राही होते हुए उत्कृष्ट के साथ रह । भूमण्डल
में धन धान्य की प्रचुर समृद्धि हो । और तीनों लोक (के निवासियों) की नारा-
यण में चिरस्थायिनी भक्ति हो ॥१६॥

अत्र—अस्मिन्, प्रसादगुणधामनि—प्रसादगुणस्य निवासभूत इव, नीति-
रम्ये—नीत्या नन्दन रम्ये विनूपिते, माधुर्यंशालिनि—मधुरमिदुर्लभं,
निरस्तसमस्तदोषे—निरम्या. अपगता. समस्ताः सकला. दोषाः कुटयो य-
स्मात् यत्र वा तादृशे, श्रीविश्वनाथकविवागमूतप्रवाहे—श्रीविश्वनाथ-
कवेः वचनानृतपाराया, धीरा.—सज्जनाः, मत्सरम्—अन्यमुन्नेयम्,
अपास्य—विहाय, चिरस्य—चिराय, मज्जन्तु—स्नान्तु । अत्र वस्तुतः
सकं छन्द. ॥१७॥

प्रसादगुण से पूर्ण, नीति-विभूषित, माधुर्य-सम्पन्न तथा समस्त दोषों
से रहित, श्री विश्वनाथ कवि की इस वाणी रूपी अमृतपारा में, धीर पुरुष
मत्सर (डाह) का त्यागकर चिरकाल तक स्नान करें ॥१७॥

[सभी चले जाते हैं]

यह ग्रन्थ समाप्त

शुद्धि-पत्र

[हिन्दी-अनुवाद मे कुछ छूटे हुए अंश को यहाँ देखें]

पृष्ठ १४ अनुवाद पक्ति ६ के बाद—

ही परिणाम कर लेंगे और मैंने यह कह कर कि यह मेरे कुल की कन्या है, आप अपनी सखी के रूप में मान कर इनका पालन करें, महारानी को सौंप दिया । [सोच कर] तो इस समय पुनः किससे और किस प्रकार इसका समाचार मालूम करें ? क्या कारण है कि अन्तपुर में रहनवाली सुन्दरना, जिनका मैंने बहुत देर हुई बुनवाया था आ नहीं रही है ?

पृष्ठ ३१, अनुवाद पक्ति ५ के बाद—

चन्द्रकला—[दीर्घ निश्वास छोड़ कर स्वयं] हृदय ! दुष्प्राप्य की ओर अनुरक्त तुम्हारी दशा ऐसी ही होनी चाहिए ।

पृष्ठ ८०, अनुवाद-पक्ति ७ के बाद—

‘सखी’ रति-पुरुष सदा ही अविश्वसनीय हैं’ यह असा दुहरा उठा है, इसे न पढ़ा जाय ।

पृष्ठ ८७, अनुवाद-पक्ति ५ के बाद—

विदूषक—मैं भी अब (अपने) अभीष्ट-सम्पादन के लिए जा रहा हूँ ।

